उत्तराध्ययन का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन

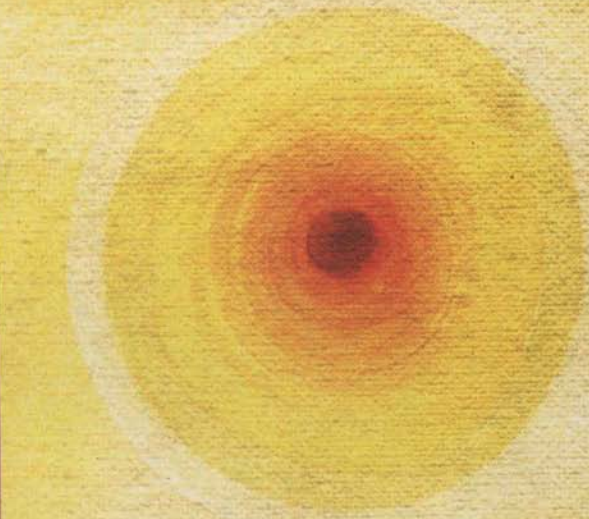

समणी अमितप्रज्ञा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन का शैली-वैज्ञानिक अध्ययन

समणी अमित प्रज्ञा

जैन विश्वभारती प्रकाशन

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूँ - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

मूल्य : ७५.०० रुपये

संस्करण : मार्च, २००५

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूँ - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

सौजन्य : स्व. प्रभुभाई वाड़ीभाई मेहता की पुण्यस्मृति में उनकी धर्मपत्नी प्रभाबेन, भाईश्री बाबुभाई, प्रवीणभाई, पुत्र विपिन, श्रीकेश, भतीजा-तुषार एवं नीरव बाव- सूरत

चित्रांकन : जगदीश नागर, ९/२, 'कमलाश्रय', दानीगेट, उज्जैन (म.प्र.)

टाइपसैटिंग : यूनिवर्सल ग्राफिक्स, लाडनूँ - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

मुद्रक : एस. एम. प्रिण्टर्स, शाहदरा, दिल्ली–३२

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हम्

उत्तराध्ययन आगम साहित्य के अध्ययन की जन्मघूंटी है। यह आजीवन पोषण देने वाला है। इसमें, तत्त्व, दर्शन, कथा, जीवनवृत, इन सबका समावेश है। इसका अध्ययन अनेक कोणों से हुआ है। इस पर बड़ी-बड़ी टीकाएं लिखी गई हैं। शैली विज्ञान की दृष्टि से समणी अमितप्रज्ञा ने जो प्रयत्न किया है, वह प्रथम है। इस विषय में आधुनिक शैली से लिखा गया ग्रंथ शैलीविज्ञान के पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है।

भिक्षु विहार
जैन विश्व भारती, लाडनूं
२२ फरवरी, २००५

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी ओर से

भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली साहित्य के ये चार तत्त्व हैं। भाव साहित्य की आत्मा है। साहित्य का लक्ष्य केवल ज्ञानवृद्धि ही नहीं है अपितु पाठक के मन-मस्तिष्क को भावनाओं से सरोबार कर देना भी है। इसकी पूर्ति भावों के चित्रण से ही संभव है। भावों का चित्रण कल्पना शक्ति के अभाव में कठिन है। कवि-कल्पना के रंग से साधारण घटना भी अध्येता के हृदय को बलपूर्वक आकर्षित करती है, परोक्ष घटना भी प्रत्यक्ष में रूपायित हो जाती है।

बुद्धि का सम्बन्ध तथ्य, विचार, सिद्धान्त से है। अतः बुद्धिशून्य कल्पना ज्यादा कारगर नहीं होती है। साहित्यकार जिस भाषा और ढंग से अपने विचारों की प्रस्तुति करता है, वही उसकी शैली है। शैली शब्दचयन, साहित्य के तत्त्वों आदि को अपने में समेटे हुए रहती है। इस दृष्टि से यदि भाव, कल्पना और बुद्धि साहित्य के प्राण हैं तो शैली उसका शरीर है। भाव, कल्पना, बुद्धि, और शैली-इन चारों का समाहार उत्तराध्ययन में देखने को मिलता है। ये उत्तरज्झयणाणि के पाठक को अध्यात्म की अनुभूतियों के प्रकाश से प्रकाशित तो करती ही है, पाठक में गंभीर अध्ययन की प्रेरणा का स्फुरण भी करती है।

उत्तराध्ययन जीवनमूल्यों की आधारशिला है। धर्मकथानुयोग के अंतर्गत परिगणित उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों में धार्मिक, दार्शनिक तथ्यों के साथ काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों का समायोजन भी सहजतया हुआ है। कहीं कथाओं के माध्यम से तो कहीं प्रश्नोत्तर के माध्यम से यथार्थ तक पहुंचने का रास्ता बताया गया है। जीवन रूपी अरण्य में भ्रमण करते हुए व्यक्ति के लिए उत्तराध्ययन की गाथाएं प्रकाश स्तम्भ स्वरूप हैं-

'समयं गोयम ! मा पमायए' (१०/१)
'सव्वं विलवियं.....' (१३/१६)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'न तस्स दुक्खं....' (१३/२३)
'माणुस्सं खु सुदुल्लहं' (२२/३८)

भीतर एक प्रेरणा जगी कि अध्यात्म की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां एवं उस समय के सांस्कृतिक प्रकाश को काव्यभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाला उत्तराध्ययन स्वाध्याय का अंग बने।

कुछ विद्वान आगमों को नीरस मानते हैं। उनका कहना है कि आगमों में साहित्यिक तत्त्व नहीं हैं। 'उत्तराध्ययन एक श्रमण काव्य है' इससे भी कुछ विद्वान सहमत नहीं है। किन्तु हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर (भाग २) में पाश्चात्य विद्वान विन्टरनित्स ने इसे श्रमणकाव्य से अभिहित किया है। वक्रोक्ति, रस, छंद, अलंकार, प्रतीक, बिम्ब आदि काव्य के तत्त्वों का भरपूर प्रयोग उत्तराध्ययन में हुआ है। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन श्रमणकाव्य है, इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। काव्य के इन्हीं तत्त्वों का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से उजागर करने का प्रयत्न प्रस्तुत शोध प्रबंध में हुआ है।

शैलीवैज्ञानिक अध्ययन आलोचना एवं समीक्षा की वह पद्धति है, जिसमें किसी भी कृति की भाषातात्त्विक, वैयाकरणिक, काव्यशास्त्रीय आदि प्रविधियों का समवेत अध्ययन किया जाता है, एक-एक पदावलि का विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है। उत्तराध्ययन केवल शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं, किन्तु यह श्रेष्ठ काव्य के सभी अंगो से परिपूर्ण है। माघ की यह उक्ति- 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' इस ग्रन्थ में पद-पद पर घटित है। एक ओर इसमें श्रेष्ठ कवि हृदय से संभूत श्रुतिसुखद पदों का प्रयोग परिलक्षित होता है वहीं दूसरी ओर चेतन पर अचेतन के आरोप रूप उपचार वक्रता, रूपकात्मक प्रतीक आदि का उत्कृष्ट निदर्शन भी प्राप्त होता है। यथा – आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूड़ामणि जहा।२२/१०

वासुदेव के मदवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती पर आरूढ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की तरह सुशोभित हुआ। चेतन (अरिष्टनेमि) पर अचेतन (चूड़ामणि) का यह उदाहरण उपचार वक्रता का श्रेष्ठ निदर्शन है। इसी प्रकार चोर के प्रतीक के रूप में 'इन्द्रिय' शब्द का नवीनतम प्रयोग हुआ है-

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावे य तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥(३२/१०४)

ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षायोपशमिक भाव-इन्द्रियां जब रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति में लिप्त होती हैं तब मनुष्य के धर्मरूपी सर्वस्व को छीन लेती हैं, इस दृष्टि से चोर के प्रतीक के रूप में इन्द्रियों का साभिप्राय प्रयोग हुआ है ।

व्याकरण की दृष्टि से भी उत्तराध्ययन में अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट प्रयोग प्रयुक्त हुये है। यथा- आहंसु (२/४५), विगिंच (३/१३), एलिक्खं (७/२२), ताई (८/४), अहोत्था (२०/१९), मन्नसी (२३/८०)।

उत्तराध्ययन की काव्यभाषागत संरचना प्रकिया में शब्दचयन कवि के विशाल अनुभव सागर से निःसृत है। 'उत्तराध्ययनः शैलीवैज्ञानिक अध्ययन' के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत करना असंगत न होगा कि उत्तराध्ययन की काव्यभाषा एक ओर अपनी शब्दसम्पदा में पर्याप्त समृद्ध है तो दूसरी ओर रचनाकार के काव्यगत कथ्य को पाठक वर्ग तक संप्रेषित करने में हर तरह से समर्थ भी है। सहजता के साथ प्राञ्जलता कवि का काव्यगुण है।

उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विशद है। दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि में उत्तराध्ययन को भगवान महावीर की विचारधारा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है इसकी महत्ता का प्रतिपादन इस पर लिखित विस्तृत व्याख्या-साहित्य से होता है। जितने व्याख्या-ग्रन्थ उत्तराध्ययन के हैं, उतने अन्य किसी आगम के नहीं हैं ।

उत्तराध्ययन के प्राप्त व्याख्या-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन आचार्य भद्रबाहु कृत 'उत्तराध्ययननिर्युक्ति' है। जिनदास महत्तर कृत 'उत्तराध्ययन चूर्णि' भी प्राप्त है। उत्तराध्ययन पर वादिवैताल शांतिसूरी की संस्कृत भाषा में लिखी 'बृहद्वृत्ति' महत्त्वपूर्ण है। बृहद्वत्ति के आधार पर १२ वीं शताब्दी में नेमीचन्द्र सूरी ने 'सुखबोधा' टीका लिखी। विक्रम संवत् १६७९ में भावविजयजी ने उत्तराध्ययन पर सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी ।

इनके अतिरिक्त और भी व्याख्या ग्रन्थ प्राप्त हैं, जो प्रायः मुख्य व्याख्याग्रन्थों के उपजीवी हैं। उनका नाम, कर्त्ता और रचनाकाल नीचे दिया

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा रहा है (जैनभारती १. वर्ष ७, अंक ३३, पृ. ५६५-६८ में प्रकाशित श्री अगरचन्दजी नाहटा के उत्तराध्ययन सूत्र और उसकी टीकाएं लेख पर आधृत)-

व्याख्या -ग्रन्थ	कर्त्ता	रचनाकाल
अवचूरि	ज्ञानसागर	वि सं. १६४१
वृत्ति	कमल संयम	॥ १५५४
दीपिका	उदयसागर	॥ १५४६
लघुवृत्ति	खरतरतपोरत्नवाचक	॥ १५५०
वृत्ति	कीर्तिवल्लभ	॥ १५५२
वृत्ति	विनयहंस	॥ १५६७-८१
टीका	अजितदेवसूरि	॥ १६२८
दीपिका	हर्षकुल	१६वीं शताब्दी
अवचूरि	अजितदेवसूरि	
टीका-दीपिका	माणिक्यशेखर सूरि	
दीपिका	लक्ष्मीवल्लभ	१८ वीं शताब्दी
वृत्ति-टीका	हर्षनन्दन	वि.सं. १७११
वृत्ति	शान्तिभद्राचार्य	
टीका	मुनिचन्द्र सूरि	
अवचूरि	ज्ञानशीलगणी	
अवचूरि		वि. सं. १४९१
बालावबोध	समरचन्द्र	
बालावबोध	कमललाभ	१६वीं शताब्दी
बालावबोध	मानविजय	वि. सं. १७४१

इनके अतिरिक्त भी कुछ वृत्ति-टीकाएं, दीपिकाएं, अवचूरियां उपलब्ध हैं। किसी में कर्त्ता का तो किसी में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। वे हैं-

मकरन्द टीका	वि. सं. १७५०
दीपिका	वि. सं. १६३७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ति-दीपिका		
दीपिका	वि. सं. १६४३	
वृत्ति		
अक्षरार्थ लवलेश		
टब्बा	आदिचन्द्र या रायचन्द्र	
टब्बा	पार्श्वचन्द्र, धर्मसिंह	१८वीं शताब्दी
वृत्ति	मतिकीर्त्ति के शिष्य	
भाषा पद्यसार	ब्रह्म ऋषि	वि. सं. १५९९

श्रीमज्जयाचार्य (वि. सं.१८६०-१९३८) ने उत्तराध्ययन के २९ अध्ययनों पर राजस्थानी भाषा में पद्य-बद्ध 'जोड़' की रचना की। स्पष्टीकरण के लिए यत्र-तत्र वार्तिक भी लिखे ।

उत्तराध्ययन के अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। जर्मन विद्वान डॉ. हरमन जैकोबी द्वारा उत्तराध्ययन का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८९५ में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी प्रस्तावना के साथ उत्तराध्ययन जार्ज शार्पेन्टियर उप्पशाला ने सन् १९२२ में प्रकाशित किया। सन् १९३८ में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद प्रकाशित किया। सन् १९५२ में गुजरात विद्यासभा-अहमदाबाद से गुजराती अनुवाद टिप्पणों के साथ अठारह अध्ययन प्रकाशित हुए। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलकऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित उत्तराध्ययन का संस्करण निकाला। सन् १९३९ से १९४२ तक श्री आत्मारामजी ने जैनशास्त्रमाला कार्यालय लाहौर से उत्तराध्ययन पर हिन्दी में विस्तृत विवेचन प्रकाशित किया। पूज्य घासीलालजी की उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका हिन्दी, गुजराती अनुवाद के साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति-राजकोट से प्रकाशित हुई (उत्तराध्ययन संपादक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, पृ. ९४)।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में संपादक-विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा 'उत्तरज्झयणाणि' के दो भाग, मूलपाठ, संस्कृत छाया व सटिप्पण हिन्दी अनुवाद तथा 'उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन' भी जैन विश्वभारती संस्थान द्वारा प्रकाशित है। युवाचार्य श्री मधुकर मुनि का मूल-अनुवाद-विवेचन-टिप्पण सहित उत्तराध्ययन सूत्र

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमप्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित है। इस प्रकार और भी कई जगह से हिन्दी,गुजराती अनुवाद प्रकाशित है ।

मुनि मांगीलाल मुकुल का उत्तराध्ययन हिन्दी पद्यानुवाद भी जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित है। डॉ सुदर्शन लाल जैन का 'उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन' वाराणसी से प्रकाशित है। इस प्रकार उत्तराध्ययन पर विपुल व्याख्यासाहित्य लिखा गया व हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में अनुवाद भी प्रकाशित हुए ।

प्रतिभामूर्ति पं. मुनि श्रीसन्तबालजी ने 'जैन दृष्टिए गीता' नामक ग्रन्थ में उत्तराध्ययन की तुलना भागवत गीता से की। कुछ विद्वानों ने उत्तराध्ययन की तुलना 'धम्मपद' के साथ की। (उत्तराध्ययन सूत्र, यु. मधुकर मुनि पृ. ९५)

कृतकार्यो के अवलोकन से ज्ञात हुआ कि विश्लेषणात्मक कार्य कम हुआ है। उत्तराध्ययन में जीवन के जो सतत स्पन्दनशील कण विद्यमान हैं, उन्हे एक सूत्र में पिरोकर व्यवस्थित रूप देने के लिए एक बड़े विद्वान की और इससे भी बड़े एक कलाकार की आवश्यकता है। काव्यभाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का स्पर्श अभी अवशेष हैं। यहां शैलीविज्ञान की दृष्टि से उत्तराध्ययन के काव्यतत्त्वों को उभारने का प्रयत्न किया गया है।

उत्तराध्ययन एक अथाह सागर है और मेरी शक्ति एक तुम्बी के समान है। अतः मेरा यह प्रयास कितना सार्थक हो सका है, इसका निर्णय तो क्षीर-नीर विवेकी समीक्षक ही कर सकेगें। मैंने तो केवल अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार विषय को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है ।

चराचर सृष्टि में सबका जीवन सापेक्ष हैं। सापेक्ष जीवनशैली के महत्त्वपूर्ण सूत्र है सहयोग, उदार वैचारिक दृष्टिकोण आदि। इस कार्य के लिए जिनसे, जहां से भी सहायता मिली उनके प्रति भीतर में अत्यन्त अहोभाव है, शब्द पूर्णतया उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं। फिर भी सर्वप्रथम नतमस्तक हूं इस ग्रन्थ के प्रति, जिसमें अवगाहन कर मुझे बहुत कुछ पाने का सुअवसर मिला। श्रद्धाप्रणत हूं परमाराध्य आगम अनुसंधायक गुरूदेव श्री तुलसी के प्रति, जिनके विशद व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की छाया में मुझे जीवन और जीवन की कला को समझने का अवसर मिला ।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्दृष्टि के पुरोधा, निःस्पृह योगी, श्रुतपरम्परा के संवाहक, युगपुरूष आचार्य श्री महाप्रज्ञजी इस शोधग्रंथ की निष्पति में मूल आधार बने हैं। उनके सारस्वत अवदान 'आगमसंपादन' के कार्य ने समय समय पर गुत्थियों को सुलझाया है। वाणी के अल्प प्रयोग में ही बहुत कुछ देने की क्षमता धारण करने वाले युवाचार्य श्री महाश्रमणजी का आशीर्वाद कार्य को सतत गति प्रदान करता रहा। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी की सानुग्रहदृष्टि एवं स्नेहसिक्त वाणी इस प्रबन्ध की निर्विघ्न संपूर्ति में कार्यकर रही। श्रुतोपासना में संलग्न इन युगपुरूषों से यही कामना है-

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्ति करौ करौ ।
त्वद् गुण श्रोत्रिणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ।।

समणी नियोजिकाजी, साध्वी कंचन रेखाजी, साध्वी प्रभाश्रीजी, साध्वी अनेकान्तप्रभाजी, डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी, डॉ. समणी सत्यप्रज्ञाजी की निश्छल व निष्काम उदारता निरंतर प्रेरणा देती रही।

जिन महापुरूषों, विद्वानों, व्याख्याकारों का इस कार्य की परिपूर्णता में योग रहा उनके प्रति प्रणत हूं। जैन विश्वभारती संस्थान की माननीया कुलपति महोदया सुधामही रघुनाथन का यथेष्ट सहयोग मिलता रहा।

प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग के रीडर डॉ. हरिशंकर पाण्डेय का कुशल निर्देशन, मार्गदर्शन, सुझाव व श्रम इस प्रबन्ध का मेरूदण्ड है। पंडित विश्वनाथ मिश्रा, डॉ. बच्छराज दुगड़ के श्रम, समय एवं सुझावों ने भी इसे निखारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मेरे शब्दों को पुस्तक आकार में ढ़ालने का श्रेय मैसर्स यूनिवर्सल ग्राफिक्स, लाडनूं को तथा तत्परता से पुस्तक रूप में लाने का श्रेय श्रीमान् नरेन्द्रजी छाजेड़ (मंत्री, जैविभा) को जाता है।

प्रणत हूं उन सभी सहयोगियों, सहयोगी ग्रन्थों के प्रति जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग मुझे मिला है, मिल रहा है और मिलता रहेगा। 'शिव संकल्पमस्तु मे मनः' के साथ सबके प्रति शुभ भावना।

विनयावनत
समणी अमितप्रज्ञा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

प्रथम अध्याय १-२४

उत्तराध्ययन सूत्र में शैलीविज्ञानः एक परिचय
आगम और उत्तराध्ययन
उत्तराध्ययनः रचनाकाल एवं कर्तृत्व
उत्तराध्ययन का परिचय
शैलीविज्ञान
शैलीविज्ञानः स्वरूप
शैलीः पाश्चात्य-मत
शैलीः भारतीय-मत
उत्तराध्ययन में शैलीविज्ञान
वैशिष्ट्य
निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय २५-८०

उत्तराध्ययन में प्रतीक, बिम्ब, सूक्ति एवं मुहावरे
प्रतीकः स्वरूप-विश्लेषण
प्रतीक-वर्गीकरण
उत्तराध्ययन के प्रतीक
बिम्ब
बाह्य-इन्द्रिय-ग्राह्य बिम्ब
अन्तःकरणेन्द्रिय-ग्राह्य बिम्ब (भावबिम्ब, प्रज्ञाबिम्ब)
सूक्तिः स्वरूप-विवेचन
सूक्ति का प्रवर्तन क्यों?
आगम और सूक्ति
सूक्ति विभाजन (पर्यावरण, अर्थशास्त्र, जीवन का सत्य,
व्यक्तित्व-विकास, साधना की ओर, जैन सिद्धान्त)
मुहावरे

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय ८१-१२७

उत्तराध्ययन मे वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का स्वरूप

काव्यशास्त्रीय आचार्यो की दृष्टि में वक्रोक्ति

वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद

१. वर्णविन्यास-वक्रता,

२. पद-पूर्वार्ध-वक्रता-रूढिवैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, संवृत्ति-वक्रता, वृत्ति-वक्रता, लिंगवै-चित्र्य-वक्रता-क्रियावैचित्र्य-वक्रता,

३. पद-परार्ध-वक्रता, कालवैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, वचन-वक्रता, उपग्रह-वक्रता,प्रत्यय-वक्रता, उपसर्ग-वक्रता, निपात-वक्रता,

४. वाक्य-वक्रता, ५. प्रकरण-वक्रता, ६. प्रबन्ध-वक्रता

चतुर्थ अध्याय १२८-१८६

उत्तराध्ययन में रस, छंद एवं अलंकार

रस, रसोत्पत्ति, रस-सामग्री,

रस-सिद्धान्त का महत्त्व,

आगम में रस विषयक अवधारणा,

उत्तराध्ययन में रस-सामग्री,

छंद का स्वरूप,

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त छंद, मात्रिक, वर्णिक

अलंकार

अलंकार : अर्थ एवं स्वरूप,

अलंकार का महत्त्व,

उत्तराध्ययन में अलंकार,

पंचम अध्याय १८७-२००

उत्तराध्ययन में चरित्र स्थापत्य

चरित्र-उपस्थापन का वैशिष्ट्य,

उत्तराध्ययन में प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ अध्याय २०१-२३१

उत्तराध्ययन की भाषिक संरचना

भाषाविज्ञान

१. ध्वनिविज्ञान

स्वर, उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में स्वर-परिवर्तन, व्यंजन, संयुक्त व्यंजन, असंयुक्त व्यंजन, समीकरण, विषमीकरण, आगम, लोप, महाप्राणीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण, ऊष्मीकरण, तालव्यीकरण, मूर्धन्यीकरण, दन्त्यीकरण, ओष्ठ्यीकरण स्वराघात

२. पदविज्ञान

नाम, आख्यात उपसर्ग, निपात, तत्सम, तद्भव, देश्य,

३. वाक्यविज्ञान

४. रचनामूलक वाक्य, अर्थमूलक वाक्य, क्रियामूलक वाक्य अर्थविज्ञान

अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अथदिश, अर्थोत्कर्ष, अर्थापकर्ष

सप्तम अध्याय २३२-२४०

निकष

प्रयुक्त ग्रंथ-सूची २४१-२५६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. उत्तराध्ययन में शैलीविज्ञान : एक परिचय

भारतीय साहित्य की अनमोल विरासत जैनागम हैं। जैनागम जैनधर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के मूल आधार हैं। इनमें निरूपित यथार्थ तत्त्व, आध्यात्मिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन जीवन की समग्र दिशाओं को उद्‌घाटित करते हैं। आगमों के पुरस्कर्त्ता ने पहले स्वयं कठोर साधना कर सत्य का साक्षात्कार किया तथा स्वर्ण की तरह निखरकर जो अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त किया उसे 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं'[१]– सभी जीवों के प्रति महाकरुणाभाव से उनके उपकार हेतु कहा।

आगम और उत्तराध्ययन

आगम क्या है? 'आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः'[२] आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ-ज्ञान आगम है। आप्त पुरुषों के अनुभूतिगत सत्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति आगम है। आप्त कौन? 'यथार्थविद् यथार्थवादी चाप्तः'[३]–यथार्थ जानने वाला और यथार्थ कहने वाला आप्त है तथा वही आप्त-वचन आगम है। आगम के लिए सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम आदि अनेक शब्द प्राप्त होते हैं।[४]

जैनागमों का प्राचीनतम वर्गीकरण पूर्व(१४)[५] और अंग (१२)[६] के रूप में प्राप्त होता है। आगम-संकलनकालीन दूसरे वर्गीकरण में आगमों को अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य–इन दो वर्गों में विभक्त किया गया है।[७] सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण के अनुसार आगम अंग, उपांग, मूल और छेद–इन चार विभागों में विभक्त हुआ।

आगम साहित्य में द्वादशांग का उल्लेख सूयगडो (२/१३५), ठाणं (१०/१०३), भगवई (१६/९१, २०/७५, २५/९६), उवासगदसाओ (२/४६, ६/२९) आदि में भी मिलता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन अंग-बाह्य आगम है तथा यह मूल सूत्र के अंतर्गत परिगणित होता है। उत्तरज्झयणाणि की भूमिका में आचार्य श्री तुलसी ने लिखा है–दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मुनि की जीवन-चर्या के प्रारंभ में मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्हीं के पठन से प्रारंभ होता है। इसीलिए इन्हें 'मूलसूत्र' की मान्यता मिली, ऐसा प्रतीत होता है।[८] डॉ. शुब्रिंग का अभिमत भी यही है।[९] मुनि के मूल गुणों–महाव्रत, समिति आदि का निरूपण होने से भी इन्हें 'मूलसूत्र' की संज्ञा दी गई।

उत्तराध्ययन : रचनाकाल एवं कर्तृत्व

उत्तराध्ययन का रचनाकाल एवं कर्तृत्व पर 'उत्तरज्झयणाणि भाग-२' में आचार्य महाप्रज्ञ ने शोध एवं समीक्षात्मक विवेचन किया है। उत्तराध्ययन का कर्ता कौन है? इस प्रश्न पर निर्युक्तिकार का कथन है कि उत्तराध्ययन एक-कर्तृक नहीं है। कर्तृत्व की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन चार भागों में विभक्त हैं –

१. अंगप्रभव–दूसरा अध्ययन
२. जिन-भाषित–दसवां अध्ययन
३. प्रत्येकबुद्ध-भाषित–आठवां अध्ययन
४. संवाद समुत्थित–नवां, तेईसवां अध्ययन

उत्तराध्ययन की मूलरचना से उसके कर्तृत्व पर कुछ प्रकाश पड़ता है–

दूसरे अध्ययन का प्रारंभिक वाक्य है–सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।

सोलहवें अध्ययन की शुरूआत में कहा है–सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं–इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता।

उनतीसवें अध्ययन के प्रारंभ में कहा है–सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं – इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि दूसरा एवं उनतीसवां अध्ययन महावीर द्वारा (जिनभाषित) व सोलहवां अध्ययन स्थविर द्वारा विरचित हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्युक्ति में दूसरे अध्ययन को पूर्व से निर्यूढ़ माना है। इससे फलित होता है कि यह जिनभाषित है।

निर्युक्तिकार के चार भागों से कर्तृत्व पर नहीं, विषय-वस्तु पर प्रकाश पड़ता है। दसवें अध्ययन की विषय-वस्तु महावीर-कथित है। पर बुद्धस्स निसम्म भासियं' से स्पष्ट है कि कर्त्ता दूसरा कोई है। दूसरे, छठे, उनतीसवें अध्ययन से भी यही तथ्य प्रकट होता है।

इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिंति जे उ काहिंति तेहिं आराहिया दुवे लोग॥ ८/२०

इससे स्पष्ट होता है यह अध्ययन प्रत्येक-बुद्ध विरचित नहीं है।

नवां, तेईसवां अध्ययन भी नमि-केशिगौतम द्वारा विरचित नहीं हैं। इसका पता उनके अंतिम श्लोकों से चलता है।

इस प्रकार निर्युक्तिकार के चार वर्गों से स्पष्ट होता है कि महावीर, कपिल, नमि और केशिगौतम—इनकी उपदेश गाथाओं, संवादों को आधार मानकर ये अध्ययन रचे गए हैं। कब, किसके द्वारा रचे गए—इसका निर्युक्ति में उत्तर नहीं है।

दूसरे किसी साधन से भी उत्तराध्ययन के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं हुआ है। रचनाकाल की मीमांसा से इतना पता चलता है कि ये अध्ययन विभिन्न युगों में अनेक ऋषियों द्वारा उद्गीत हैं।

उत्तराध्ययन में ई. पू. ६०० से ई. सन् ४०० तक की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व हुआ है। इनका कुछ अंश महावीर से पहले का भी हो सकता है। चूर्णि में संकेत भी है कि छठा अध्ययन भगवान पार्श्व द्वारा उपदिष्ट है।[१०]

देवर्द्धिगणी ने आगमों का संकलन वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी में किया। उत्तराध्ययन के आकार-प्रकार, विषयवस्तु में विस्तार किया या नहीं, इसका उल्लेख नहीं मिलता पर इस निषेध का भी कोई कारण नहीं है। इसलिए उत्तराध्ययन को हम एक सहस्राब्दी की विचारधारा का प्रतिनिधि सूत्र कह सकते हैं। वर्तमान संकलन के आधार पर उत्तराध्ययन के संकलनकर्ता देवर्द्धिगणि प्रतीत होते हैं। प्रारंभिक संकलन और देवर्द्धिगणि कालीन संकलन में अध्ययनों की संख्या व विषयवस्तु में पर्याप्त अंतर है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयवस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन चार भागों में विभक्त होते हैं –

१. धर्मकथात्मक–७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७
२. उपदेशात्मक–१, ३, ४, ५, ६ और १०
३. आचारात्मक–२, ११,१५,१६,१७, २४, २६, ३२ और ३५
४. सैद्धान्तिक–२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४ और ३६

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि उत्तराध्ययन के प्रथम १८ अध्ययन प्राचीन हैं और उत्तरवर्ती १८ अध्ययन अर्वाचीन हैं। इसके लिए कोई पुष्ट साक्ष्य नहीं है पर यह निश्चित है कि कई अध्ययन बहुत प्राचीन हैं और कई अर्वाचीन।

इन सभी तथ्यों से निष्कर्ष निकलता है कि यह संकलन सूत्र है, एक कर्तृक नहीं।

उत्तराध्ययन का परिचय

आगमों में उत्तराध्ययन का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दिगम्बर आगम में भी अंग-बाह्य के चौदह प्रकारों में आठवां भेद उत्तराध्ययन है।[११] उत्तराध्ययन दो शब्दों का सम्मिलित रूप हैं– उत्तर और अध्ययन। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसलिए उन्हें 'उत्तर अध्ययन' कहा गया।[१२]

श्रुतकेवली शय्यंभव के पश्चात ये अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे।[१३] अतः ये 'उत्तर अध्ययन' ही बने रहे।

समवायांग में 'छत्तीसं उत्तरज्झयणा'–छत्तीस उत्तर अध्ययन प्रतिपादित हुए हैं। (समवाओ, समवाय ३६) नंदी में भी 'उत्तरज्झयणाइं' यह बहुवचनात्मक नाम है। (नंदी, सूत्र ७८) उत्तराध्ययन के अंतिम अध्ययन के अंतिम श्लोक में 'छत्तीसं उत्तरज्झाए' ऐसा बहुवचनात्मक नाम है।[१४] निर्युक्तिकार[१५] और चूर्णिकार[१६] ने भी बहुवचनात्मक प्रयोग किया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उत्तराध्ययन विविध अध्ययनों का योग मात्र है, एक-कर्तृक ग्रन्थ नहीं।

उत्तराध्ययन आर्ष काव्य है। विन्टरनित्स, कानजीभाई पटेल आदि ने

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन को श्रमण काव्य कहा है।[१७] धर्मोपदेश और आध्यात्मिकता की प्रधानता होते हुए भी यह कृति काव्य कैसे है? इसका विवेचन आवश्यक है।

काव्यशास्त्र की व्युत्पत्ति 'कवि' शब्द से होती है। 'कु' वर्णने धातु से कवि शब्द निष्पन्न होता है। कवि अपने वैशिष्ट्य एवं महत्त्व के लिए हमेशा समादृत होता रहा है। प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कवि शब्द का प्रयोग आत्मद्रष्टा या क्रान्तद्रष्टा के अर्थ में किया गया है–

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्य्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुतां अर्य एवः॥[१८]

अग्निपुराण कवि की प्रशस्ति में कहता है –

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥[१९]

भवभूति ने कवियों की वंदना करते हुए कहा –

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यः नमोवाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्॥[२०]

उक्त प्रकार से प्रशंसित कवि-कर्म को काव्य कहा जाता है। काव्य की परिभाषा करते हुए कहा गया– 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'[२१]

काव्यजगत की इन्हीं विशेषताओं को अपने में समेटे हुए होने के कारण विद्वानों की दृष्टि में उत्तराध्ययन श्रमण-काव्य है।

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन हैं। १६३८ श्लोक तथा ८९ सूत्र हैं। इनमें साधु के आचार-विचार एवं तत्त्वज्ञान का सहज एवं सरल शैली में वर्णन है। उत्तराध्ययन के वर्तमान अध्ययनों के जो नाम समवायांग व उत्तराध्ययन निर्युक्ति में मिलते हैं, उनमें कुछ अंतर भी है।

अध्ययनों का संक्षिप्त परिचय

१. विणयसुयं

इस अध्ययन की ४८ गाथाओं में विनय का सर्वांगीण विवेचन है। विनीत एवं अविनीत शिष्यों के गुण-दोष के वर्णन सह गुरु-शिष्य का आपस में सम्बन्ध कैसा होना चाहिए–इसका निदर्शन भी इस अध्ययन में प्राप्त है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकार ने विनीत को वह स्थान दिया है, जो हर किसी को सहज प्राप्त नहीं है– 'हवई किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा।' (उत्तर. १/४५) जैसे पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार है वैसे ही विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।

२. परीषह पविभत्ती

संयमी जीवन में प्राप्त होने वाले २२ परीषहों को सहन करने का निर्देश इसमें हैं। सहन करने के प्रयोजन (स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने एवं निर्जरा) को ध्यान में रखते हुए साधक परीषहकाल में दृढ़तापूर्वक आत्मचिन्तन करता है।

३. चाउरंगिज्जं

जीवन में चार अंगों की दुर्लभता का प्रतिपादन इस अध्ययन में हुआ है। वे चार तत्त्व हैं–मनुष्यता, धर्मश्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

४. असंखयं

अप्रमत्तता इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है। जीवन का संधान नहीं किया जा सकता, प्राण छूटने के बाद जोड़ा नहीं जा सकता। अतः व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिए। यह अध्ययन भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त रहने का उपदेश देता है। कर्मों का फल नहीं है–इस प्रकार की मिथ्या मान्यताओं का निरसन भी इसमें हुआ है।

५. अकाममरणिज्जं

निर्युक्ति में इसका नाम 'मरणविभक्ति' मिलता है। मृत्यु भी एक कला है। विवेकी पुरुषों का मरण सकाममरण है। अज्ञानियों का मरण अकाममरण है। अंतिम अवस्था के प्रति व्यक्ति किस रूप में जागरूक रहे इसका पथदर्शन इस अध्ययन में मिलता है।

६. खुड्डागनियंठिज्जं

इसमें मुनि के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि-त्याग का संक्षिप्त निरूपण है। संसार में दुःख कौन पैदा करता है? इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा–जितने भी अविद्यावान पुरुष हैं, वे दुःख उत्पन्न करने वाले हैं। अतः विद्या और आचरण की समन्विति का संदेश यह अध्ययन देता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. उरब्भिज्जं

उरभ्र (बकरा) के दृष्टान्त के आधार पर इस अध्ययन का नामकरण 'उरब्भिज्जं' हुआ है। इसमें दृष्टान्त शैली से गहन तत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है।

इसका मुख्य प्रतिपाद्य उरभ्र के दृष्टान्त से भोगों के कटु-फल का निदर्शन है। श्रामण्य का आधार अनासक्ति है। जो रसों में आसक्त होता है वह दुःख से मुक्त कभी नहीं हो सकता। जो अनासक्त है वह विषयों को अपने वश में कर दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इसी अध्ययन में काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त से मोहवश छोटे सुख के लिए बड़े सुखों से वंचित रह जाने की मानसिकता की ओर इंगित किया है। आत्मिक सुख महान है, पदार्थ सुख तुच्छ है। अल्प के लिए बहुत की हानि न करें—यही इसका संदेश है।

८. कापिलीयं

इस अध्ययन के प्ररूपक कपिलऋषि ने बीस गाथाओं में लाभ और लोभ की परंपरा – चक्र का सजीव चित्रण किया है। इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य है—उस सत्य की शोध, जिससे दुर्गति का अन्त हो जाए।

९. नमिपव्वज्जा

राज्य-धर्म के प्रतिपक्ष में आत्म-धर्म के तत्त्वों की प्रस्तुति इसका मुख्य लक्ष्य है। इसमें संयम के लिए तत्पर राजर्षि नमि एवं ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र का संवाद-शैली में सुन्दर चित्रण है। इन्द्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को उपस्थित करते हैं तथा राजर्षि उनका समाधान देते हैं। दृढ़ संकल्प के महत्त्व को भी इस अध्ययन में उजागर किया गया है।

१०. दुमपत्तयं

महावीर के प्रथम गणधर गौतम की विचिकित्सा का निराकरण करने के लिए इस अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्ययन जीवन की क्षणिकता, मनुष्यभव की दुर्लभता, शरीर व इन्द्रिय-बल की उत्तरोत्तर क्षीणता, स्नेह दूर करने की प्रक्रिया तथा भोगों को पुनः स्वीकार न करने की प्रेरणा आदि का निदर्शन कराता है। इसमें गौतम को सम्बोधित कर प्रतिक्षण अप्रमत्त रहने की प्रेरणा दी गई है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. बहुस्सुयपूया

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारंभ में विनीत-अविनीत की कसौटी का निरूपण कर फिर बहुश्रुत की भावपूजा का वर्णन है। इस अध्ययन के आधार पर बहुश्रुतता का प्रमुख कारण विनय है और बहुश्रुत का मुख्य अर्थ चतुर्दश-पूर्वी है।

१२. हरिएसिज्जं

इस अध्ययन में चाण्डाल-कुल में उत्पन्न मुनि हरिकेशी के उदात्त चरित्र का वर्णन हुआ है। इसमें मुनि और ब्राह्मणों के बीच हुई वार्ता के माध्यम से ब्राह्मण-धर्म और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार, कर्मणा जातिवाद की स्थापना, तप का प्रकर्ष तथा अहिंसक यज्ञ की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन हुआ है।

१३. चित्तसंभूइज्जं

चित्त और संभूत नामक दो भाइयों के सुख-दुःख के फलविपाक की चर्चा का इस अध्ययन में प्रतिपादन है। दोनों की छः जन्मों की पूर्वकथा का संकेत भी है। निदान के कारण भोगासक्त संभूत के जीव का पतन व संयम में रत चित्त मुनि का उत्थान बताकर प्राणियों को धर्म की ओर अभिमुख होने का तथा निदान नहीं करने का उपदेश दिया गया है।

१४. उसुयारिज्जं

इस अध्ययन का प्रधान पात्र भृगु-पुरोहित का परिवार है। लोक-परंपरा में राजा की प्रधानता के कारण इसका नाम 'इषुकारीय' रखा गया है।[२२] इसमें दोनों पुरोहित कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, इषुकार राजा व रानी कमलावती–इन छहों व्यक्तियों के अभिनिष्क्रमण की चर्चा है। इस अध्ययन से ब्राह्मण-संस्कृति तथा श्रमण-संस्कृति की मौलिक मान्यताएं भी स्पष्ट होती हैं। इसका प्रतिपाद्य अन्यत्व भावना का उपदेश है।

१५. सभिक्खुयं

इसमें भिक्षु के गुणों का वर्णन हैं। साथ ही दार्शनिक तथा सामाजिक तथ्यों का संकलन भी है। उस समय कुछ श्रमण और ब्राह्मण मंत्र चिकित्सा, विद्याओं के प्रयोग आजीविका आदि चलाने में करते थे। इस अध्ययन में जैन श्रमण के लिए ऐसा करने का निषेध किया गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. बंभचेरसमाहिठाणं

इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानों—शयन-आसन, कामकथा, चक्षुगृद्धि आदि का मनोवैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया गया है।

१७. पावसमणिज्जं

इसकी २१ गाथाएं पापश्रमण (ज्ञान आदि आचारों का सम्यक् पालन न करने वाला) कौन होता है?—इसका मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती है।

१८. संजइज्जं

इसमें कांपिल्य नगर के राजा संजय की दीक्षा का वर्णन है। प्रसंगवश भरत, सगर आदि चक्रवर्ती तथा दशार्णभद्र, विजय आदि नरेश्वरों की प्रव्रज्या का भी उल्लेख है। भौगोलिक दृष्टि से दशार्ण, कलिंग, पांचाल आदि देशों का नामोल्लेख भी हुआ है।

१९. मियापुत्तिज्जं

जाति-स्मृति ज्ञान के माध्यम से पूर्व-जन्म की घटनाओं का प्रत्यक्ष कर मृगापुत्र भोगों को छोड़ प्रव्रज्या के लिए माता-पिता से अनुज्ञा मांगता है। माता-पिता श्रामण्य की कठोरता का प्रतिपादन करते हैं जबकि मृगापुत्र साधु के आचार के प्रतिपादन के साथ पूर्व में भोगी नारकीय वेदनाओं का वर्णन करता है। अंत में अनुज्ञा प्राप्त कर संयम ग्रहण करके मृगापुत्र सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है।

२०. महानियंठिज्जं

महानिर्ग्रन्थ का अर्थ है—सर्वविरत साधु। इसमें सर्वविरत साधु अनाथी तथा मगध सम्राट् श्रेणिक के बीच नाथ-अनाथ को लेकर हुए रोचक संवाद का वर्णन है।

२१. समुद्दपालीयं

इस अध्ययन में आत्मानुशासन के उपायों के साथ-साथ समुद्रयात्रा का उल्लेख है। 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा'—इस चिंतन से समुद्रपाल की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है, वह दीक्षित हो जाता है। इस अध्ययन में प्रयुक्त 'वज्झमंडणसोभाग' शब्द उस समय के

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्डविधान की ओर संकेत करता है। तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का उल्लेख भी इस अध्ययन में हुआ है।

२२. रहनेमिज्जं

यदुवंशी अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण, राजीमती, रथनेमी का चरित्र-चित्रण इसमें हुआ है। पथच्युत रथनेमी का राजीमती चरण-स्थिरीकरण करती है। इसमें आए हुए भोज, अन्धक और वृष्णि शब्द प्राचीन कुलों के द्योतक हैं।

२३. केसिगोयमिज्जं

इसमें पार्श्वापत्यीय केशी और महावीर के शिष्य गौतम के बीच एक ही धर्म में सचेल-अचेल, चातुर्याम-पंचयाम आदि परस्पर विपरीत धर्म के विषय भेद को लेकर संवाद होता है। इससे पता चलता है कि महावीर ने कैसे अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्द्धन किया था। आत्मविजय और मनोनुशासन के उपायों का भी अच्छा चित्रण है।

२४. पवयण-माया

इसमें बताया गया है कि प्रवचन-माताओं के पालन में विशुद्धता से ही श्रामण्य का शुद्ध पालन संभव है। सम्पूर्ण साधु जीवन का आधार यह अध्ययन है। माता जैसे पुत्र को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, वैसे ही प्रवचनमाता साधक को सम्यक् विधि से साधनापथ पर चलने की प्रेरणा देती है।

२५. जन्नइज्जं

वास्तविक यज्ञ भावयज्ञ (तप और संयम में यतना) तथा सच्चा ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है—इसका प्रतिपादन इस अध्ययन में हुआ है। प्रसंगानुकूल इसमें ब्राह्मण के मुख्य गुणों का उल्लेख है।

२६. सामायारी

सामाचारी का अर्थ है—मुनि का आचार-व्यवहार। इसमें साधक का साधना क्रम वर्णित है। आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा आदि सामाचारी के साथ प्रस्तुत अध्ययन में अन्यान्य कर्तव्यों का निर्देश भी हुआ है।

२७. खलुंकिज्जं

इसमें अविनीत शिष्य की तुलना दुष्ट बैल से की गई है और उसके माध्यम से अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण किया गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. मोक्खमग्गगई

प्रस्तुत अध्ययन में मोक्षमार्ग के साधनभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुरंग मार्ग का निरूपण है।

२९. सम्मत्तपरक्कमे

इसमें संवेग से जीव क्या प्राप्त करता है, धर्म-श्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है—इस प्रकार ७१ प्रश्नोत्तरों में जैन साधना-पद्धति का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

३०. तवमग्गगई

तपस्या मोक्ष का मार्ग है, उससे तपस्वी की मोक्ष की ओर गति होती है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है।

३१. चरणविही

इसमें मुनि की चरणविधि का निरूपण हुआ है। चरण का प्रारंभ यतना से व अन्त पूर्ण निवृत्ति में होता है। निवृत्ति से जो प्रवृत्ति फलित होती है, वही सम्यक् प्रवृत्ति चरण-विधि है।

३२. पमायट्ठाणं

प्रमाद के कारण तथा निवारण के उपायों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। प्रमाद साधना का विघ्न है। अतः साधक को प्रतिक्षण अप्रमत्त, जागरूक रहना चाहिए।

३३. कम्मपयडी

इसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि कर्मप्रकृतियों का निरूपण होने से इसका नाम 'कम्मपयडी' है।

३४. लेसज्झयणं

यह अध्ययन इस बात की ओर संकेत करता है कि जैसी हमारी लेश्या है, वैसी ही मानसिक परिणति होती है। कषाय की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि एवं अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है।

३५. अणगारमग्गगई

इसका प्रतिपाद्य संग (आसक्ति)-विज्ञान है। असंग का मुख्य हेतु देह-व्युत्सर्ग अनगार का मार्ग है और यह दुःखमुक्ति के लिए है। क्योंकि अनगार दुःख के मूल को नष्ट करने का मार्ग चुनता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. जीवाजीवविभत्ती

इसमें मूल तत्त्व जीव और अजीव के विभागों का निरूपण है। अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करने के बाद क्रमिक प्रयत्न से संलेखना का भी इसमें वर्णन है। २६८ वीं गाथा (अन्तिम गाथा) में उत्तराध्ययन के अध्ययनों की संख्या छत्तीस बताई है तथा यह भी कहा गया है कि भगवान महावीर ने इसका प्रज्ञापन किया है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन अपनी विशिष्ट शैली-संयोजना द्वारा मुख्य रूप से संसार की असारता, श्रमणाचार, दार्शनिक सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान आदि का निदर्शन कराते हैं। उत्तराध्ययन यद्यपि धर्मकथानुयोग में परिगणित है पर आचार के प्रतिपादन से चरणानुयोग व दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिपादन से द्रव्यानुयोग का भी इसमें मिश्रण हो गया है।

शैलीविज्ञान

शैलीगत अध्ययन वर्तमान युग में साहित्य की सर्वमान्य विशेषता बन गया है। यह साहित्य की भाषा से प्रारंभ होता है और भाषा वैज्ञानिक प्रविधियों का पूरा उपयोग करते हुए विश्लेषण की सभी दिशाओं का स्पर्श करता है। भाषाविज्ञान की सहायता से रचना की सत्यता तक यथार्थ तरीके से पहुंचता है।

शैलीविज्ञान : स्वरूप

शैलीविज्ञान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है--वह विज्ञान जो शैली का अध्ययन करे।[२३] इसके आधार पर शैलीविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया--शैली के वैज्ञानिक अध्ययन को शैलीविज्ञान कहते हैं।[२४] डॉ. नगेन्द्र शैलीविज्ञान को 'भाषागत प्रयोगों के विश्लेषण की नियमसंहिता' मानते हैं।[२५] साहित्य का सौन्दर्य भाषा द्वारा ग्रहण होता है--इस अवधारणा के साथ शैलीविज्ञान साहित्य विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। वह साहित्यिक भाषा के प्रत्येक प्रयोग की अनेक तलों पर व्याख्या कर, उनसे उत्पन्न चमत्कार का प्रत्यक्ष करता है।[२६]

भाषा विज्ञान केवल भाषा की प्रकृति के अध्ययन तक सीमित है। जबकि शैलीविज्ञान भाषा के माध्यम से कथ्य या अनुभूति तक पहुंचने का विधान करता है।[२७]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैलीविज्ञान एक नवीनतम समीक्षा-सिद्धांत है जिसका चिन्तन वस्तुपरक है और दृष्टि भाषावादी।[२८]

निष्कर्षतः कवि द्वारा भाषा की संरचनागत एवं अनुभूतिगत विशिष्ट प्रविधियों के प्रयोग का अध्ययन ही शैलीवैज्ञानिक अध्ययन है।

कई बार प्रचलित भाषा-संरचना-विधियों के अध्ययन से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, तब शैलीविज्ञान खोज करता है—रचनाकार ने कहां-कहां भाषा की सामान्य विधियों से 'विपथन' या 'विचलन' किया है। 'विचलन' अर्थात् सामान्य रचना-मार्ग से हटकर अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट रचनामार्ग का आश्रयण करना। शैलीविज्ञान उसमें यह देखता है कि कवि ने उस अधिकार का उपयोग किस सीमा तक किस परिमाण में किया है।[२९]

शैलीविज्ञान का प्रमुख तत्त्व शैली है। शैली क्या है?

शैली-पाश्चात्य मत

शैलीविज्ञान का आज हम जिस अर्थ में अध्ययन करते हैं उसका रूप निर्धारण पाश्चात्य विचारकों ने भी किया है।

बफन के अनुसार व्यक्ति की अभिव्यक्ति के साथ शैली हमारे विचारों को व्यवस्था एवं गति प्रदान करने में निहित है।[३०]

मिडिलटन मरे का कहना है—'शैली भाषा का वह गुण है, जो लाघव से कवि के मनोभावों या विचारों अथवा प्रणाली का संवाहन करता है।[३१] शैली व्यक्ति के अनुभूति की सीधी अभिव्यक्ति है।[३२]

कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है कि शैली शब्द अंग्रेजी के Style शब्द के आधार पर उसके पर्यायवाची के रूप में गढ़ा गया है। अंग्रेजी में शैली के लिए स्टाइल शब्द का प्रयोग किया गया है। वह स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के 'स्टाइलास' (Stylas) से बना है। स्टाइलास का अर्थ कलम है। प्राचीन रोमन काल में लौह लेखनी से मोम चढ़ी पट्टियों अथवा कागज पर लिखा जाता था। वही कालान्तर में अभिव्यक्ति का प्रतीक बनकर लिखने की विशिष्ट शैली या अभिव्यक्ति के ढंग के लिए प्रयुक्त होने लगा।[३३] स्टाइल का अर्थ अब लक्षण द्वारा लेखक की शैली हो गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैली : भारतीय मत

शैली के संदर्भ में भारतीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। करुणापति त्रिपाठी के अनुसार जब कोई विचार आकर्षक, रमणीय व प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त किया जाता है, तब उसे हम साहित्य जगत में 'शैली' कहने लगते हैं।[३४]

सीताराम चतुर्वेदी शब्दों की कलात्मक योजना को शैली कहते हैं।[३५]

गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में शैली मनोगत भावों को मूर्त्तरूप प्रदान करने वाला साधन है।[३६]

डॉ. श्यामसुन्दरदास ने शैली को रचना का चमत्कार और विचारों का परिधान माना।[३७] उनका कहना है कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती है तथा उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।[३८]

बाबू गुलाबराय ने भारतीय और पश्चिमी विचारों का समन्वय करके मध्यममार्ग से शैली को ग्रहण किया है। उन्होंने कहा–शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप में दूसरों तक पहुंचाने के लिए अपनाता है।[३९]

शैली एक साधन है, उसका साध्य है व्यक्तिगत भाव, विचार अथवा अनुभूति को सर्वग्राह्य बनाना।[४०]

संक्षेप में 'वाक्यरचना की विशिष्टता' शैली का यह अर्थ शैली की आधुनिक संकल्पना के पर्याप्त निकट प्रतीत होता है।[४१]

शैली शब्द रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, संघटना, मार्ग आदि अनेक शब्दों की अवधारणाओं को समाहित कर लेता है। अभिव्यक्ति और शैली पर्याय है। अभिव्यक्ति की पद्धति को भारतीय काव्यशास्त्र में रीति, वृत्ति, मार्ग आदि अभिधानों से अभिहित किया गया है।

वामन के अनुसार 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'[४२] शब्द और अर्थ के सौन्दर्य से युक्त पद-रचना रीति है। आधुनिक युग के एक मनीषी आलोचक एवं भाषाविज्ञ ने तो 'शैलीविज्ञान' का निरूपण ही 'रीतिविज्ञान' के नाम से किया है।[४३]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना कहा। यथोचित घटना पदरचना का नाम संघटना है। संघटना माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके रसों को अभिव्यक्त करती हैं, जिसके नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य है।

प्रवृत्ति का सर्वप्रथम विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत ने नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का स्थापन करने वाली विशेषता को प्रवृत्ति कहा है। कालान्तर में अर्थ संकोच होता गया। आज प्रवृत्ति का प्रयोग सामान्यतः किसी समुदाय विशेष की किसी काल विशेष में व्याप्त सांस्कृतिक विशेषताओं अर्थात् उसकी रुचि, स्वभाव, परम्परा, खानपान, वेशभूषा, रहन-सहन और अन्य क्रियाकलाप की विशिष्टताओं के लिए किया जाता है।[४४] अतः प्रवृत्ति का संबंध एक ओर देश-विशेष से है तो दूसरी ओर कालविशेष से है।

आनन्दवर्धन ने रसादि के अनुकूल शब्द और अर्थ के उचित व्यवहार को आधार मानकर दो प्रकार की वृत्तियां मानी[४५]– अर्थ के व्यवहारानुसार भरत की कैषिकादि और शब्द के व्यवहारानुसार उद्भट आदि की उपनागरिका आदि। आनन्दवर्धन ने पदस्थितिप्रधान रचना के लिए 'संघटना' तथा वर्णस्थिति- प्रधान रचना के लिए 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है।[४६]

आधुनिक शैलीविज्ञान अपनी कृति-केन्द्रित, भाषा आधारित एवं वस्तुगत समीक्षा के बल पर पुनः विकसित हो रहा है। उसके मानक हैं–१. व्याकरण २. अभिधान कोष ३. छंद ४. अलंकार ५. साहित्य –रीति सिद्धांत, काव्य के गुण-दोष उदात्तता, पदौचित्य आदि। प्रायः उसमें उपर्युक्त तत्त्व भी मौजूद है। संक्षेप में साहित्य में भाषागत विशिष्ट प्रयोगों का अध्ययन शैलीविज्ञान है।

शैलीविज्ञान अन्यथाकृत भाषा का अध्ययन करता है। इसी को डिफेमेलियराइजेशन (विपथन) कहा जाता है तथा भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य इसी को उक्ति विशेष या वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति के माध्यम से ही लोकप्रचलित भाषा अन्यथाकृत हो जाती है।

उत्तराध्ययन में शैलीविज्ञान

किसी भी रचना की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति किस साधन और किस माध्यम से हो रही है, वही

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी शैली होती है। वे कौन सी प्रविधियां हैं, जिनके आश्रयण से कवि की वाणी सशक्त व प्रभविष्णु बन जाती है? मूल तत्त्व है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति का एक ऐसा आयाम जो 'सामान्य कथ्य' को 'विशेष' सम्प्रेषणीय बना देता है, वह माध्यम भाषा है। भाषा की विशिष्टता के लिए विचलन, अन्य के धर्म का अन्य पर आरोप, उपमा, रूपकादि अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक, सशक्त एवं साभिप्राय पदावलि का प्रयोग काम्य है।

उत्तराध्ययन में शैलीविज्ञान के इन सभी तत्त्वों का रचनाकार ने भरपूर प्रयोग किया है, जिसके कारण वह 'श्रमणकाव्य' के अभिधान से अभिहित होता है। उत्तराध्ययन में एक ओर कवि- हृदय से संभूत श्रुतिसुखद पदों का प्रयोग परिलक्षित होता है तो दूसरी ओर उपचार-वक्रता आदि का उत्कृष्ट निदर्शन भी दिखाई देता है।

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रारंभ ही इससे होता है—'विणयं पाउकरिस्सामि' (१/१) प्रकट करना मूर्त्त का धर्म है, विनय अमूर्त्त है—कैसे प्रकट करें? यहां अमूर्त्त विनय को मूर्त्त रूप में चित्रित किया है। 'पाउकरिस्सामि' में क्रिया-वक्रता है। यहां एक ही उदाहरण दिया जा रहा है। विस्तृत विवेचन संबंधित अध्याय में किया जा सकेगा। उत्तराध्ययन में प्रतीक, बिम्ब, वक्रोक्ति आदि तत्त्व शैलीविज्ञान के सहचर बनकर काव्यभाषा के विश्लेषणात्मक अनुसंधान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

शैलीविज्ञान पद में निहित रचनाकार की मानसिकता को तलाशता है। अतः पद प्रयोग के वैशिष्ट्य को बताने के लिए ही शैलीविज्ञान की आवश्यकता है।

वैशिष्ट्य

उत्तराध्ययन की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित अर्धमागधी प्राकृत है। 'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ' (समवाओ, समवाय ३४)—भगवान महावीर अर्द्धमागधी भाषा में बोलते थे। भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में उत्तराध्ययन की भाषा अत्यन्त प्राचीन है। आगम-साहित्य में आचारांग और सूत्रकृतांग की भाषा के बाद तीसरे स्थान पर उत्तराध्ययन का नाम आता है।[४७]

उत्तराध्ययन भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कवि के

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास विशेषणों का विपुल भंडार एवं अभिव्यक्ति कौशल भी है। भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, कर्मफल, पुनर्जन्म, साध्वाचार, समिति-गुप्ति का पालन आदि वर्णन उत्तराध्ययन में विस्तार से हुआ है। इस देश की मनीषा ने त्याग को सर्वोच्च मानवीय गुण के रूप में स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन में राजर्षियों की त्यागकथा वर्णित है। काव्य और नैतिकता का समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। साहित्य के तत्त्व रस, छंद, अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, वक्रोक्ति आदि पदे-पदे देखे जा सकते हैं।

' धर्म एवं वैराग्य विषयक उपदेश द्वारा शांतरस की सरिता प्रवाहित हुई है –

अधुवे असासयम्मि, संसारंमिदुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा।। (८/१)

' कहीं वीररस की प्रभावशाली योजना भी दिखाई देती है तो कहीं बीभत्स-रस का भी वर्णन है। प्रमाद से संचित ज्ञानराशि विस्मृत हो जाती है, छंदोबद्ध भाषा में कवि वाणी निःसृत हुई–

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी.....। (४/६)

धार्मिक तथ्यों को उजागर करने में, उनकी व्याख्या में प्रतीकात्मक रूपकों का प्रयोग किया गया है। यथा–इन्द्र-नमि में प्रव्रज्या विषयक, हरिकेशी में यज्ञ-विषयक, केशी-गौतम में धर्मभेदविषयक प्रतीकात्मक रूपकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

उत्तराध्ययन के कर्त्ता ने अध्यात्म के गहन प्रदेश में प्रवेश की अनुगूंज से व्यक्तियों के मानस को अनुगुंजित किया। चित्तमुनि का हृदय ही मानों पद रूप में फूट पड़ा –

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्ठं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।। (१३/१६)

उद्घोष और आह्वान की भावना पूरी रचना में अन्तःस्फूर्त है –

समयं गोयम! मा पमायए (१०/३६)
नरिंद! जाई अहमा नराणं (१३/१८)
पावसमणि त्ति वुच्चई (१७/३)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्तियों का सहज प्रस्फुटन हुआ है। एक सूक्ति में भी पूरे जीवन की दिशा को बदलने का सामर्थ्य है –

अभयदाया भवाहि य (१८/११)

न चित्ता तायए भासा (६/१०)

संवाद-शैली का भी अपना महत्त्व रहा है। कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए रोचक एवं सजीव संवाद उत्तराध्ययन में नजर आते हैं। हरिकेशी और ब्राह्मणों के बीच हुए संवाद से यज्ञ का आध्यात्मिकीकरण, मृगापुत्र और उनके माता-पिता के साथ हुए संवाद से साधु के आचार का प्रतिपादन, अनाथी मुनि और मगध सम्राट् के बीच अनाथ शब्द को लेकर हुआ संवाद–ऐसे कई प्रसंग संवादशैली की उपयोगिता को सिद्ध करते हैं।

उत्तराध्ययन में कई जगह एक जैसे वाक्यों का बार-बार प्रयोग हुआ है–

'एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ' (९/८ से)

'समयं गोयम! मा पमायए' (१०/१-३६)

'तं वयं बूम माहणं' (२५/१९-२९)

'जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले' (३१/७-२०)

लेकिन ये पुनरुक्ति विषय के स्पष्टीकरण के लिए हुई है, पुनरुक्त दोष नहीं है। उत्तराध्ययन में अनुक्रम बराबर बना हुआ है। पूर्व गाथाओं का प्रभाव प्रसंगतः आगे भी चलता रहता है।

लगभग प्रत्येक अध्याय में निगमनात्मक गाथा मिलती है। यथा– 'चत्तारि परमंगाणि.....' (३/१), 'एए परीसहा.....' (२/४६) इत्यादि।

व्याकरण की दृष्टि से उत्तराध्ययन में अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट प्रयोग प्रयुक्त हुए हैं –

जत्तं (१/२१) (संस्कृत रूप यत् तत्)

'जं' और 'तं' दो शब्द है। ज के बिन्दु का लोप और त को द्वित्व हुआ है।[४८]

दम्मंतो (१/१६) दमितः (संस्कृत)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुसाणे (२/२०) श्मशान के अर्थ में आर्ष प्रयोग।

नगिणिणं, जडी (५/२१) प्राचीन प्रयोग।

आघायाय (५/३२) शतृ प्रत्यय के अर्थ में आर्ष प्रयोग।

सव्वसो (६/११)—आर्ष प्रयोग के कारण तस् के स्थान पर शस् प्रत्यय।

वग्गूहिं (९/५५) आर्ष प्रयोग।

अहोत्था (२०/१९) अभूद् (संस्कृत)

आहंसु (२०/३१) अवोचम् (संस्कृत)

विप्परियासुवेइ (२०/४६)

विप्परियासं + उवेइ—यह सन्धि का अलाक्षणिक प्रयोग है।

मणूसा (४/२), परत्था (४/५), भवम्मी (१४/१)—इनमें स्वर का दीर्घीकरण हुआ है।

कम्बोज (११/१६), पुरिमताल (१३/२), पिहुंड (२१/३), सोरियपुर (२२/१), द्वारका (२२/२७), वाराणसी (२५/१३) आदि अनेक देशों तथा नगरों का भी विविधतापूर्वक वर्णन उत्तराध्ययन में प्राप्त है। भौगोलिक सामग्री विकीर्ण पड़ी है।

निर्युक्तिकालीन व्याख्या-पद्धति का प्रमुख अंग निक्षेप-पद्धति का भी प्रयोग उत्तराध्ययन में हुआ है। अनेक अर्थ वाले शब्दों में अप्रस्तुत अर्थों का अग्रहण और प्रस्तुत अर्थ का बोध निक्षेप के द्वारा ही होता है। जैसे—संजोगा (१/१)

'यह मेरा है'—ऐसी बुद्धि संयोग है। यहां बाह्य संयोग (पारिवारिक) और आभ्यन्तर संयोग (विषय, कषाय आदि) का ग्रहण किया गया है।

तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में भी विपुल सामग्री उत्तराध्ययन प्रस्तुत करता है —

दास भी कामनापूर्ति का हेतु था। (३/१७)

बाह्यवेश और आचार के आधार पर विरोधी मतवाद—मुण्ड और जटाधारी होने से धर्म, वस्त्र रखने से धर्म, नग्न रहने से धर्म आदि। (५/२१)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पशुओं को चावल, मूंग, उड़द आदि दिए जाते थे। (७/१)

प्रमुख सिक्का काकिणी (७/११)

अस्त्र-शस्त्र,सुरक्षा के साधन–प्राकार, गोपुर, अट्टालिकादि। (९/१८)

चोरों के प्रकार–आमोष, लोमहार, ग्रन्थिभेदक आदि । (९/२८)

यज्ञ आदि अनुष्ठानों का विवेचन (अध्ययन १२, २५)

उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य, ब्रह्म–प्रासादों का उल्लेख (१३/१३)

पुनर्विवाह की प्रथा (१३/२५, १८/१६)

बिना मालिक के धन पर राजा का अधिकार (१४/३७)

चिकित्सा पद्धति में आयुर्वेद-वमन,विरेचन आदि का प्रचलन(१५/८)

आखेट कर्म (१८/१)

युद्ध में चतुरंगिणी सेना का नियोजन (१८/२)

विद्या, मंत्रों जड़ी-बूटियों से भी चिकित्सा की जाती थी। (२०/२२)

चतुष्पाद चिकित्सा-वैद्य,रोगी,औषधि,प्रतिचर्या करने वाले(२०/२३)

प्रसाधन में गंध, माल्य, विलेपन आदि का प्रयोग। (२०/२९)

प्रायः स्त्रियां पति के भोजन, स्नान आदि कर लेने पर ही भोजन आदि करती थी। (२०/२९)

नौका व्यापार, अन्तर्देशीय व्यापार (२१/२)

बहत्तर कलाएं (२१/६)

दंड (२१/८)

राजलक्षणों की चर्चा (सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि) (२२/१)

शिल्प कार्य–खेती में काम आने वाले हल, कुदाली, फरसा आदि बनाकर बेचना। (३६/७५)

इस प्रकार सभ्यता, संस्कृति के संदर्भ में पर्याप्त सामग्री उत्तराध्ययन में हैं।

वर्तमान में प्रचलित अर्थ से भिन्न प्रयोगों का भी व्यवहार हुआ है –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोणं (१५/१) का प्रचलित अर्थ मौन अर्थात् चुप रहना है किन्तु यहां यह शब्द मुनिव्रत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

चिंता (२३/१०) तर्क अर्थ में प्रयुक्त।

चाउरंतं (२९/सू. २३) वृत्तिकार द्वारा अंत का अर्थ अवयव।[४९]

भाषागत संस्कार की शैली भी उत्तराध्ययन में देखने को मिलती है। महावीर क्षत्रिय थे। नवें अध्ययन में युद्ध की भाषा में कहा—'अप्पाणमेव जुज्झाहि' (९/३५) क्षेत्र बदल गया किन्तु पहले की पृष्ठभूमि 'आत्मना युद्धस्व' के रूप में मुखर हो रही है।

'अरिष्टनेमि, कृष्ण (अध्ययन २२), महावीर (अध्ययन २३) का उल्लेख जैनदर्शन में तीर्थंकर, वासुदेव की परम्परा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

आगम-परंपरा की दृष्टि से उत्तराध्ययन समवायांग आदि अंगग्रंथों से भी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। विन्टरनित्स, शार्पेन्टियर आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने उत्तराध्ययन की तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, जातक, महाभारत आदि प्रसिद्ध जैनेत्तर ग्रंथों से की है।[५०]

इस प्रकार उत्तराध्ययन केवल उपदेशात्मक या दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ ही नहीं अपितु श्रेष्ठ काव्य के सभी अंगों से परिपूर्ण है। जीवन-सागर की किसी भी भावलहर से कविमानस शायद ही अछूता रहा होगा। माघ की यह उक्ति 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' इस ग्रंथ के पद-पद पर घटित है।

नव मल्ली नव लिच्छवी देशों के सम्राटों का सोलह प्रहरी पौषध में सोलह प्रहर तक लगातार एकाग्रतापूर्वक महावीर की अंतिम देशना का श्रवण करते रहना—उत्तराध्ययन की जीवन में उपयोगिता का इससे अच्छा प्रमाण और क्या होगा?

उत्तराध्ययन का समग्र रूप से अनुशीलन, विश्लेषण अभी नहीं हुआ है। उसकी उपयोगिता व आवश्यकता अक्षुण्ण है।

आध्यात्मिक ग्रंथ होते हुए भी साहित्यिक एवं काव्यशास्त्रीय प्रविधियों का भरपूर प्रयोग उत्तराध्ययन में हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष

शैलीविज्ञान की स्वरूप-परिकल्पना के अंतर्गत उसके आधारभूत तत्त्वों, अध्ययन-अनुसंधान के विविध आयामों के केन्द्र में जो एक वस्तु है, वह काव्यभाषा है। विशिष्ट प्रयोगों के कारण काव्यभाषा की सामान्य भाषा से विलक्षणता का अनुसंधान शैलीविज्ञान करता है। वह रचना में संप्रेष्य भावों का साक्षात् काव्यभाषा के विभिन्न तत्त्वों वक्रोक्ति, रस, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि के द्वारा करता है। आगामी अध्यायों में काव्यभाषा के वैशिष्ट्य के अनुसंधायक इन्हीं तत्त्वों का उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में विशद विवेचन काम्य है।

सन्दर्भ -

१. पण्हावागरणाइं, ६/१५

२. प्रमाणनयतत्त्वावलोक, ४/१

३. भिक्षु न्याय कर्णिका, चतुर्थ विभाग, सू. ३

४. अणुओगदाराइं, सू. ५१

५. समवाओ, समवाय १४/२

६. समवाओ, समवाय १/२

७. नंदी सूत्र ७३

८. उत्तराध्ययन भूमिका, पृ. ८

९. दसवेआलिय सुत्त, भूमिका पृ. ३

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १५७

११. कषायपाहुड, जयधवला टीका सहित प्रथम अधिकार, पृ. २२, २३

१२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३;
कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा॥

१३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

१४. उत्तर. ३६/२६८

१५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८
१७. (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ. ४६६
(ख) श्रमण, मई-जून १९६४, पृ. ४८
१८. ऋग्वेद, ४/२/१२
१९. अग्निपुराण, अध्याय ३३८/१०
२०. उत्तररामचरित, १/१
२१. रसगंगाधर, पृ. ४
२२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६२
२३. डॉ. रामप्रकाश, समीक्षा-सिद्धांत, पृ. १९४
२४. डॉ. भोलानाथ तिवारी, शैलीविज्ञान, पृ. २३
२५. शैलीविज्ञान, पृ. ४
२६. डॉ. गुप्तेश्वरनाथ उपाध्याय, शैलीविज्ञान का स्वरूप, पृ. २१
२७. डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श, पृ. ८
२८. द्रष्टव्य . डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, पृ. ४
२९. द्रष्टव्य : डॉ. रामप्रकाश, समीक्षा सिद्धांत, पृ. १९५
३०. Buffon : Discourse of Style.
३१. Problem of Style, p. 71.
३२. Problem of Style, p. 19.
३३. Walter Raleigh : Style, p. 19.
३४. शैली, पृ. २८
३५. समीक्षाशास्त्र, पृ. ५४४
३६. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, पृ. ९७
३७. साहित्यालोचन, पृ. २८६
३८. साहित्यालोचन, पृ. १९८
३९. सिद्धांत और अध्ययन, पृ. १९०
४०. हिन्दी साहित्यकोष, भाग १, पृ. ८३६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१. द्रष्टव्य : रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी कोष : शैली

४२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, १/२/१३

४३. डॉ. विद्यानिवास मिश्र, रीतिविज्ञान

४४. शैली के सिद्धांत, डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ. ३४

४५. ध्वन्यालोक, ३-३३

४६. ध्वन्यालोक, ३-७

४७. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर-भाग २, पृ. ४३०, ४३१

४८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५

४९. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८५

५०. (क) हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृ. ४६६
(ख) उत्तराध्ययन शार्पेन्टियर, भूमिका, पृ. ४०

◆◆◆

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. उत्तराध्ययन में प्रतीक, बिम्ब, सूक्ति एवं मुहावरे

प्रतीक : स्वरूप विश्लेषण

'प्रतीयते येन इति प्रतीकः' - जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष या वस्तु-विशेष की प्रतीति हो वह प्रतीक है। इस अन्वय के अनुसार प्रतीक वह है जो अपने से भिन्न किसी अन्य प्रतीयमान अर्थ का बोध कराता है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' में प्रतीक शब्द की व्याख्या करते हुए उसकी संरचना 'प्रति' और 'इक' के योग से मानी। जिसका अभिप्राय है (किसी के) प्रति झुका हुआ। उनके कथनानुसार जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का (सम्पूर्ण सम्यक्) ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।[1] इस दृष्टि से प्रतीक अपने भीतर किसी पदार्थ के संकेत छिपाए रखने वाला तत्त्व है। सांकेतिक शब्दों से वस्तु या गुण को व्यक्त कर देना प्रतीक का कार्य है। कला का वैशिष्ट्य छुपाव है, प्रदर्शन नहीं। इस दृष्टि से प्रतीक अलंकरण या प्रसादन के हेतु हैं।

प्रतीक में सम्पूर्ण की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।[2] किसी जीव-वस्तु, दृश्य-अदृश्य, प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति प्रतीक है। 'प्रतीक वह जादुई कुंजी है जो सभी द्वारों को खोल सकती है। सभी प्रश्नों का समाधान कर सकती है।'[3] प्रतीक को अंग्रेजी में 'सिम्बल' कहा गया है। डॉ. नगेन्द्र ने प्रतीक को रूढ़ उपमान व अचल बिम्ब माना है। उनका कथन है जब उपमान स्वतंत्र न रहकर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तब वह प्रतीक बन जाता है।[4] डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार – जिस प्रकार मधु का एक बिन्दु सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि एवं मकरंद का संश्लिष्ट रूप है उसी प्रकार एक प्रतीक अनेकानेक मानव जगत और वस्तु-जगत के कार्य-व्यापारों का संकलन है। साहित्य के इतिहास में मंत्र से लेकर आत्मबोध की

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकानेक भावनाएं इसी प्रतीक द्वारा उद्‌बुद्ध हुई हैं। प्रतीक व्यष्टि में समष्टि का संपोषण है।[५]

काव्यभाषा प्रतीकों के रथ पर सवार होकर अपना सफर तय करती है। प्रतीक गुह्य अर्थ-पटल को खोलने वाली वह कुंजी है जो आकार में लघु होते हुए भी भाव जगत के विशाल प्रासाद में प्रवेश के द्वार उन्मुक्त करती है। काल की सम्प्रेष्य भावनाएं अभिव्यक्ति के द्वार बन्द देखती हैं तब प्रतीक अनायास उनकी उन्मुक्ति का नया मार्ग प्रशस्त करते हैं। शैलीविज्ञान के अनुसार प्रतीक में निबद्ध काव्यभाषा अमूर्त्त को मूर्त्त, अदृश्य को दृश्य अथवा अप्रस्तुत को प्रस्तुत बनाने वाले प्रसंग गर्भित विशिष्ट संरचना-बिंदुओं को उजागर करती है। मितव्ययिता प्रतीक का धर्म है।

प्रतीक और बिम्ब ये दोनों शब्द प्रायः एक जैसा अर्थ ध्वनित करते हैं, पर दोनों में बहुत अन्तर हैं –

बिम्ब	प्रतीक
१. बिम्ब में निश्चित वस्तु के निश्चित रूप का संकेत रहता है।	१. प्रतीक में स्थिति सदैव अनिश्चित ही रहती है।
२. बिम्ब में चित्रात्मकता प्रधान रहती है।	२. प्रतीक संकेत/व्यंग्य प्रधान रहता है।
३. बिम्ब का वैशिष्ट्य उसके पूर्ण विवरण में है।	३. प्रतीक का वैशिष्ट्य संक्षिप्तता में हैं।
४. बिम्ब सामान्य पाठक में भी भावोत्तेजन करने में सक्षम है।	४. प्रतीक में बौद्धिकता अधिक सन्निहित रहती है। कभी ये इतने दुरूह होते हैं कि उन्हें समझने के लिए बौद्धिक संस्कार आवश्यक है।

प्रतीक-प्रयोग का हेतु विषय की व्याख्या, स्पष्टीकरण व अर्थ को दीप्त करना है। प्रतीक का रूप सम्पूर्ण तथ्य का द्योतन मात्र होता है, इसमें पूर्ण तथ्य की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं होती।

उत्तराध्ययन के ऋषि ने अपने काव्य में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उत्तराध्ययन के प्रतीक वे जलते हुए दीपक हैं, जिनकी रोशनी में हम शाश्वत सत्यों का, शक्तियों का कुछ रहस्य प्राप्त कर सकते हैं। मानवीय मनोभाव, धर्म, दर्शन, सिद्धान्त आदि के गहन रहस्यों को समझाने के लिए विविध प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीक वर्गीकरण

प्रतीकों की प्रकृति, अर्थवत्ता और व्यंजना-शक्ति देश-काल-व्यक्ति के अनुसार परिवर्तनीय है। इसीलिए विद्वानों, समीक्षकों ने प्रतीकों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया है।

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त प्रतीकों के अनेक विभाग किए जा सकते हैं–

१. स्रोत के आधार पर

मनुष्य जगत के प्रतीक – सूरे दढपरक्कमे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्ढिए, सक्के, सारही, इंदियचोरवस्से

तिर्यञ्च जगत के प्रतीक – मिए, भारुंडपक्खी, कंथए आसे, कुंजरे, वसहे, सीहे, कावोया वित्ती, दुट्ठस्सो, सप्पे।

स्थान प्रतीक – लाढे

प्राकृतिक प्रतीक –जगई, घयसित्त व्व पावए, चेइए वच्छे, कुमुदं, दिवायरे, उडुवई चंदे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, तमं तमेणं, किंपागफलाणं, विज्जुसोया-मणिप्पभा, भाणू।

खाद्य पदार्थ के प्रतीक – संखम्मि पयं

२. शुभाशुभ के अभिव्यंजक

शुभ : जगई, दोगुंछी, लाढे, घयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी,पत्तं, चेइए वच्छे, कुमुदं, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्ढिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्ठागारे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, विहारं, सिरं, कावोया वित्ती, विज्जुसोयामणिप्पभा, भाणू, सारही, अंतकिरियं

अशुभ : मिए, तमं तमेणं, साहाहि रुक्खो, किंपागफलाणं, दुट्ठस्सो, सप्पे, इंदियचोरवस्से

३. मूर्त्तत्व - अमूर्त्तत्व के आधार पर

अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रतीक : मिए, घयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी, कुमुदं, सिरं, किंपागफलाणं, दुट्ठस्सो, सप्पे

अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त प्रतीक : अंतकिरियं

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रतीक : जगई, लाढे, पत्तं, चेइए वच्छे, संखम्मि पयं, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्ढिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्ठागारे, जंबू दुमे, सीया नई, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, विहारं, तमं तमेणं, साहाहि रुक्खो, विज्जुसोयामणिप्पभा, भाणू, सारही, इंदियचोरवस्से।

४. लिंग के आधार पर

स्त्रीलिंग : जगई, दोगुंछी, सीया नई, कावोया वित्ती, विज्जुसोयाम-णिप्पभा।

पुल्लिंग : मिए, लाढे, घयसित्त व्व पावए, भारुंडपक्खी, चेइए वच्छे, कंथए आसे, सूरे दढपरक्कमे, कुंजरे, वसहे, सीहे, वासुदेवे, चक्कवट्टी महिड्ढिए, सक्के, दिवायरे, उडुवई चंदे, कोट्ठागारे, जंबू दुमे, मंदरे गिरी, सयंभूरमणे उदही, साहाहि रुक्खो, दुट्ठस्सो, भाणू, सारही, सप्पे, इंदियचोरवस्से।

नपुंसकलिंग : पत्तं, कुमुदं, संखम्मि पयं, विहारं, तमं तमेणं, सिरं, किंपागफलाणं, अन्तकिरियं।

इसी प्रकार और भी विभाजन किया जा सकता है।

उत्तराध्ययन के प्रतीक

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त कुछ प्रतीकों का विश्लेषण यहां काम्य है।

मिए (मृगः)

मृग इन्द्रियों में आसक्त मन का प्रतीक है। मृग शब्द के दो अर्थ हैं – हिरण व पशु। उत्तराध्ययनकार ने पशु की लाक्षणिक विवक्षा से इस प्रतीक का प्रयोग अज्ञानी या विवेकहीन व्यक्ति के लिए किया है –

एवं शीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए। उत्तर. १/५

अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

यहां कवि-अभिप्रेत प्रतीक का भावार्थ है 'अज्ञानं सर्वपापेभ्यः पापमस्ति महत्तरम्' – क्रोध आदि सब पापों से भी अज्ञान बड़ा पाप है। अज्ञान महारोग है, कष्टकर है। अज्ञान रूपी पर्दे से आच्छादित व्यक्ति अपने हित-अहित को नहीं जान पाता।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगई (जगती)

पृथ्वी को विनीत शिष्य का प्रतीक बनाया गया है। पृथ्वी एक प्रतीक है 'सर्वंसहा' का, 'क्षमाशीलता' का, सभी के आधार का। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर कहा गया कि मुनि को पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए। यहां विनीत शिष्य का प्रतीक बनाकर कहा गया –

हवई किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा॥ उत्तर. १/४५

जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है।

सभी प्राणियों को आधार प्रदान करने के कारण पृथ्वी सबकी आश्रयदाता है, सबका आधार है। पृथ्वी की अनवरत आधारशीलता को आचार्य के लिए विनीत शिष्य के आधार का प्रतीक मानकर शिष्य को पृथ्वी से भी अधिक आधारभूत होने का कवि-इच्छित प्रतीक की ये पंक्तियां साक्ष्य हैं।

दोगुंछी (जुगुप्सी)

अहिंसक के प्रतीकरूप में प्रयुक्त 'दोगुंछी' शब्द का निंदा करने वाला, घृणा करने वाला आदि अर्थों में साहित्य-क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलन है। कवि ने इस प्रतीक के प्रचलित अर्थ को थोड़ा विस्तार देकर, उसे भावार्थप्रधान बनाकर उस शब्द के द्वारा प्राणीमात्र के प्रति अहिंसक व्यवहार की अभिव्यंजना कराई है –

तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे॥ उत्तर. २/४

अहिंसक या करुणाशील लज्जावान संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करें, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करें।

'दोगुंछी' का संस्कृत रूप 'जुगुप्सी' गुपू रक्षणे[६] धातु से निष्पन्न है। उसका शाब्दिक अर्थ है– घृणा करने वाला। मुनि हिंसा से, अनाचार से घृणा करता है। प्यास से आक्रान्त होने पर भी सचित जल का सेवन उसके लिए अनाचीर्ण होने से त्याज्य है, अहितकर है। वह परीषह सहन कर लेता है किन्तु ऐसी हिंसा से घृणा करता है। यहां 'दोगुंछी' शब्द मुनि की अहिंसक वृत्ति का, अविराम साधना का प्रतीक है, जो साधु की सही पहचान की प्रतीति कराने में समर्थ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाढे (लाढः)

आगमिक भाषा ऋषि-रचित होने से अध्यात्म-परक है। 'लाढ' मूल रूप में एक प्रदेश का नाम है, किन्तु यहां कष्टसहिष्णु के रूप में प्रयुक्त होने से काव्यजगत में उभरने वाला आगमकार का यह एकदम नया प्रतीक है–

एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए॥ उत्तर. २/१८

संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गांव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

भगवान महावीर ने लाढ देश में विहार किया था, तब वहां अनेक कष्ट सहे थे।[७] कभी शिकारी कुत्तों के तो कभी वहां के रुक्षभोजी लोगों के। आगे चलकर लाढ शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा-सूचक बन गया। संयमी जो कि कष्ट-सहिष्णु है, उसके लिए यहां लाढ शब्द का अर्थगर्भित प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

इसी आगम के १५/२ में लाढ का अर्थ- सत् अनुष्ठान से प्रधान- किया है।[८]

इसी गाथा मे प्रयुक्त 'एग' शब्द 'राग-द्वेष रहितता' का तथा जनता के मध्य रहता हुआ भी 'अप्रतिबद्धता' का सूचक है।

घयसित्त व्व पावए (घृतसिक्तः इव पावकः)

क्रोध की अभिव्यक्ति, दीप्ति/निर्वाण, तेजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए 'अग्नि' प्रतीक सर्वप्रचलित है। स्वयं रचनाकार ने निर्वाण/दीप्ति अर्थ में 'घृतसिक्त-अग्नि' प्रतीक का प्रयोग किया है –

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्त व्व पावए॥ उत्तर. ३/१२

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमें ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमें धर्म ठहरता है वह घृत से अभिसिक्त अग्नि की भांति परम निर्वाण (समाधि) को प्राप्त होता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घृतसिक्त-अग्नि को निर्वाण का प्रतीक बनाकर कवि कहना चाहता है कि पलाल, तृण आदि के द्वारा अग्नि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी घृत के सिंचन से होती है। घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं। अतः निर्वाण का अर्थ भी यहां 'बुझना' की अपेक्षा 'दीप्ति' अधिक उपयुक्त है। जिसका जीवन धर्मानुगत होता है, वह आत्मरमण से निरन्तर सुख को प्राप्त करता हुआ दीप्तिमान बनता है।

भारुंडपक्खी (भारण्डपक्षी)

काव्य-जगत में स्वच्छन्द व्यक्तित्व के लिए प्रायः 'पक्षी' प्रतीक का प्रयोग होता है। यहां अप्रमत्त अवस्था का प्रतीक भारण्डपक्षी है। जैन साहित्य में यह व्यापक स्तर पर प्रचलित प्रतीक है—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो॥ उत्तर. ४/६

आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर होता है। शरीर दुर्बल है। इसलिए भारण्डपक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे। कवि का प्रतीक संदेश स्पष्ट है कि मृत्यु का कोई निश्चित समय नहीं है, क्षण भर भी प्रमाद मत करो। प्रमादी को चारों ओर से भय है। अप्रमादी अभय होकर विचरण करता है। अतः भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करो।

यहां अप्रमत्तता को उद्घाटित करने के लिए 'भारण्डपक्षी' को प्रतीक बनाया गया है।

पत्तं (पात्रं)

पक्षी के सौन्दर्य को बढ़ाने वाला तथा निरन्तर उसके साथ रहने वाला उपकरण 'पत्त' भिक्षु के भिक्षापात्र का प्रतीक बन गया है—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए॥ उत्तर. ६/१५

संयमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे। पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो, परिव्रजन करें।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लेष पर आधारित यह प्रतीक है। 'पत्तं' के दो अर्थ होते हैं – पत्र/पंख और भिक्षा-पात्र। कवि अभिप्रेत संप्रेष्य कथ्य यह है कि जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई चिन्ता नहीं होती। वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहां जाए वहां साथ ले जाए, संग्रह करके न रखे- पीछे की चिन्ता से निरपेक्ष होकर विहार करे।[९]

चेइए वच्छे (चैत्यो वृक्षः)

कवि-मानस स्वभावतः प्रकृति का सहचर होता है। प्रकृति से उसका साहचर्य काव्यभाषा के लिए अनायास ही वरदान बन जाता है। प्रतीक के संदर्भ में भी प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का संयोजन पर्याप्त सहायक है। 'नमिपव्वज्जा' अध्ययन में 'चेइए वच्छे' नमि का प्रतीक बनकर उभरा है–

मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए बहूणं बहुगुणे सया॥ उत्तर. ९/९

मिथिला में एक चैत्यवृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलों से लदा हुआ और बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी।

चैत्यवृक्ष को नमि राजर्षि का प्रतीक बनाकर कवि का कहना है कि राजर्षि के शीतल, सुखद आश्रय में सभी मिथिलावासी सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हर दृष्टि से नगरवासियों के लिए राजर्षि आधार बना हुआ था।

गाथा में प्रयुक्त 'बहूणं' शब्द भी चूर्णिकार के अनुसार द्विपद, चतुष्पद तथा पक्षियों का द्योतक है।[१०]

कुमुयं (कुमुदं)

प्रकृति मनुष्य से भी अधिक संवेदनशील है। कवि-हृदय के अमूर्त्त उद्‌गारों की अभिव्यंजना के लिए विभिन्न प्रकृति-प्रतीक माध्यम बनते हैं। शरद्-ऋतु का कुमुद निर्लेपता का प्रतीक बना है–

वोछिंद सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम ! मा पमायए॥ उत्तर. १०/२८

जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमुद को निर्लेपता का प्रतीक बना भगवान ने गौतम को स्नेहमुक्त होने का उपदेश दिया। कुमुद पहले जलमग्न होता है, बाद में जल के ऊपर आ जाता है। चिर संसृष्ट, चिरपरिचित होने के कारण गौतम का महावीर से स्नेहबंधन है। महावीर नहीं चाहते कि कोई उनके स्नेहबंधन में बंधे। इसलिए महावीर ने स्नेह के अपनयन के लिए कुमुद को प्रतीक बना गौतम को प्रेरणा दी।

बहुस्सुतो के प्रतीक

बहुश्रुत कौन ? 'बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो'[११] – जो श्रुत का धारक है वह बहुश्रुत है। 'बहुस्सुयपुज्जा' में बहुश्रुत के प्रसंग में रूढ़ उपमानों के रूप में प्रतीकों का प्रभूत प्रयोग हुआ है।

बहुश्रुत के व्यक्तित्व का सर्वांगीण परिचय कराने वाली सोलह विशेषताएं प्रतीक रूप में प्रस्तुत हैं –

१. निर्मलता : शंख में निहित दूध की तरह निर्मल आभा वाला
२. जागरूकता : आकीर्ण अश्व की तरह निरन्तर जागरूक
३. शौर्यवीरता : अजेय योद्धा की तरह पराक्रमी
४. अप्रतिहतता : बलवान हाथी की तरह समर्थ/ अप्रतिहत
५. भारनिर्वाहकता : यूथाधिपति वृषभ की तरह भार-निर्वाहक/ गण-प्रमुख
६. दुष्प्रधर्षता अनाक्रमणीयता : दुष्पराजेय सिंह की तरह अनाक्रमणीय (अन्यदर्शनी उस पर वैचारिक आक्रमण नहीं कर सकते)
७. अबाधित बल : वासुदेव की भांति अबाधित बल वाला
८. लब्धिसंपन्नता : ऋद्धिसंपन्न चक्रवर्ती की तरह योगज विभूतियों से संपन्न
९. स्वामित्व : देवाधिपति शक्र की भांति दिव्य शक्तियों का अधिपति
१०. तेजस्विता : सूर्य की भांति तेजस्वी (तप के तेज से)
११. कलाओं से परिपूर्णता : पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति समस्त कलाओं से परिपूर्ण
१२. श्रुतसंपन्नता : कोष्ठागार की भांति श्रुत से परिपूर्ण
१३. श्रेष्ठता : जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. निर्मलता : निर्मल जल वाली शीता नदी की भांति निर्मल ज्ञान से युक्त

१५. अचल और दीप्तिमान : मन्दर पर्वत की तरह अचल तथा ज्ञान के प्रकाश से दीप्त

१६. अक्षय ज्ञान : नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र की तरह अक्षय ज्ञान तथा अतिशयों से सम्पन्न ।

ये सभी प्रतीक बहुश्रुत की आंतरिक शक्ति तथा तेजस्विता को प्रकट करते हैं। उत्तर. ११/१५-३०

विहारं (विहारं)

विहार शब्द के अनेक अर्थ हैं – मनोरंजन, खेल, आमोद-प्रमोद, घूमना आदि। प्रस्तुत प्रसंग में विहार का प्रयोग एक अन्य अर्थ जीवन की समग्रता, मनुष्य जीवन के लिए किया गया है –

असासयं दट्ठु इमं विहारं बहुअंतरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो आमंतयामो चरिस्सामु मोणं॥

उत्तर. १४/७

हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनिचर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।

तमं तमेणं (तमस्तमसि)

साहित्य जगत में अंधकार निराशा, अवसाद या विपत्ति के रूप में प्रचलित है। उत्तराध्ययन में इस प्रचलित अर्थ से दूर न होते हुए भी, उसमें एक अन्य सूक्ष्म अर्थ को समाविष्ट कर विशिष्ट अर्थव्यंजना की है –

वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं।

उत्तर. १४/१२

वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे अन्धकारमय नरक में ले जाते हैं।

यहां 'तम' का अर्थ नरक और 'तमेणं' का अर्थ अज्ञान से किया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तमंतमेणं' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी जाए तो इसका वैकल्पिक अर्थ– अन्धकार से भी जो अति सघन अन्धकारमय हैं वैसे रौरव आदि नरक– होगा।[1]

यहां 'तमं तमेणं' शब्द अन्धकारमय नरक का प्रतीक है।

साहाहि रुक्खो (शाखाभिर्वृक्षो)

पहीणपुत्तस्स हु णत्थि वासो वासिट्ठि ! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं॥

उत्तर. १४/२९

पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि ! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूंठ कहते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में वृक्ष शब्द पुरोहित का प्रतीक है और शाखा शब्द पुरोहित पुत्रों का। वृक्ष शाखा से समाधि को प्राप्त होता है अर्थात् मेरे पुत्र संयम स्वीकार कर रहे है। शाखाएं मेरे से अलग हो रही हैं। कटी हुई शाखाओं वाला वृक्ष ठूंठ कहलाता है। प्रतीक- संकेत है कि मैं ठूंठ की तरह असहाय होकर नहीं जी सकता।

सिरं (शिरः)

मानव जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य-प्राप्ति की व्यंजना इस प्रतीक के माध्यम से की है, जो व्यक्ति को जातिपथ/जन्ममरण के चक्कर से मुक्त कर शाश्वत स्थान पर प्रतिष्ठित करता है–

तहेवुग्गं तवं किच्चा अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी अद्दाय सिरसा सिरं॥ उत्तर. १८/५०

इसी प्रकार अनाकुल चित से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर/मोक्ष को प्राप्त किया।

कवि का वर्ण्य विषय यहां शिर नहीं, वह तो अप्रस्तुत है। प्रस्तुत है– वह उच्चतम स्थान जिसे प्राप्त कर व्यक्ति शाश्वत आनंद में रमण करने लगता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में सबसे ऊंचा स्थान शिर का है तथा लोक में सबसे ऊंचा मोक्ष/अपवर्ग है। इस समानता के कारण मोक्ष को 'सिर' कहा है।[13]

'सिरसा' शब्द भी जीवन निरपेक्षता का प्रतीक है। सिर दिए बिना अर्थात् जीवन निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। 'सिरसा' शब्द में 'इष्टं' साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है।

कावोया (कापोती)

भिक्षु षट्जीवनिकाय का रक्षक होने से स्वयं भोजन नहीं बनाता। गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए बनाये हुए भोजन में से उसका कुछ अंश लेकर अपना जीवन निर्वाह करता है। जैन साहित्य में भिक्षुओं के भिक्षा का नामकरण पशु-पक्षियों के नामों के आधार पर किए गए हैं। यथा– माधुकरीवृत्ति, कापोतिवृत्ति, अजगरीवृत्ति आदि। प्रस्तुत प्रसंग में कापोतिवृत्ति भिक्षु की भिक्षावृत्ति का प्रतीक है –

कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बंभवयं घोरं धारेउं अ महप्पणो ॥ उत्तर. १९/३३

यह जो कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोष-भीरू वृत्ति), दारूण केश-लोच और घोर-ब्रह्मचर्य को धारण करना है, वह महान आत्माओं के लिए भी दुष्कर है।

यह प्रतीक दोष-भीरू वृत्ति का संवाहक बनकर आया है। वृत्तिकार ने कापोतीवृत्ति का अर्थ किया है– कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहन करने वाला। जिस प्रकार कापोत धान्यकण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक होता है।[14]

किंपागफलाणं (किम्पाकफलानां)

भोगों की विरसता के निदर्शन के लिए 'किंपाकफल' को प्रतीक बनाया गया है–

जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुंदरो॥ उत्तर. १९/१७

जिस प्रकार किम्पाक फल खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता उसी प्रकार भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीक का संदेश है कि किंपाकफल देखने में बहुत सुन्दर और खाने में अति स्वादिष्ट होता है। किन्तु उसको खाने का परिणाम प्राणान्त है। वैसे ही भोग भोगते समय सुखानुभूति होती है पर उनका परिणाम सुखद नहीं होता।

परिणाम-अभद्रता का प्रतीक किंपाकफल भोग सेवन के दु:खद परिणाम का निर्देश करता है।

विज्जुसोयामणिप्पभा (विद्युत्सौदामिनीप्रभा)

क्षणिकता, स्फूर्ति, त्वरिता, दीप्ति, ओज आदि जीवन-तत्त्वों का अंत:करण में एक साथ संचार करने वाले प्रतीक का प्रयोग उत्तराध्ययन में राजीमती की शारीरिक कान्ति/दीप्ति द्योतित करने के प्रसंग में हुआ है –

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा॥ उत्तर. २२/७

वह राजकन्या सुशील चारुप्रेक्षिणी, स्त्रियोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

सर्वलक्षण-युक्त राजीमती के शारीरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए 'विद्युत' प्रतीक के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

दुट्ठस्सो (दुष्टाश्व:)

अश्व को मन का प्रतीक बनाकर कवि कहते हैं –

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम ! आरूढो कहं तेण न हीरसि? ॥ उत्तर. २३/५५

यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है। गौतम ! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?

इस प्रतीक से कवि कहना चाहते हैं कि मन रूपी अश्व को श्रुत रूपी लगाम से बांधकर सन्मार्गगामी बनाओ।

भाणू (भानु:)

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल। यह प्रकाश अस्मिता व सर्वज्ञता का है। मोक्ष का मार्ग तपोमयी साधना की अपेक्षा रखता है। जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, तप के तेज से दीप्त

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उस देदीप्यमान ज्योति-पुंज को बिम्बायित करने में 'भाणू' प्रतीक सटीक और सक्षम है –

उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं॥ उत्तर. २३/७६

समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

तेजस्विता का पुंज सूर्य यहां प्राणियों के अज्ञान तथा मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले अर्हत रूपी भास्कर का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है।

महावीर रूपी सूर्य का पृथ्वी पर अवतरण प्राणियों के लिए उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

सारही (सारथि:)

सारथि शब्द पथप्रदर्शक का प्रतीक है। कवि ने इस प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखकर आचार्य के प्रतीक के रूप में यहां प्रस्तुत किया –

अह सारही विचिंतेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई॥ उत्तर. २७/१५

कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर सारथी (आचार्य) सोचते हैं – इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न–व्याकुल होती है।

'सारही' का शाब्दिक अर्थ है – रथवान, मार्गप्रदर्शक। प्रस्तुत प्रसंग में यह लाक्षणिक प्रयोग आचार्य के प्रतीक के रूप में हुआ है। जैसे सारथि उत्पथगामी या मार्गच्युत बैल या घोड़े को सही मार्ग पर ला देता है, वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों को सन्मार्ग पर ले ओते हैं।[१५]

अंतकिरियं (अन्तक्रियां)

मोक्ष के प्रतीक-रूप में 'अंत' शब्द का प्रयोग –

नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं
कप्पविमाणो ववत्तिगं आराहणं आराहेइ॥ उत्तर. २९/सूत्र १५

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधिलाभ से संपन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त का तात्पर्य है भव या कर्मों का विनाश। उसको फलित करने वाली क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। यहां तात्पर्यार्थ के रूप में 'अन्त' शब्द मोक्ष का प्रतीक है।

सप्पे (सर्पः)

दुर्व्यवहार, कटु भाषण, छल-कपट आदि की प्रस्तुति के लिए 'सर्प' प्रतीक प्रयुक्त होता रहा है। उत्तराध्ययन के ऋषि ने इस प्रचलित प्रतीक को गंधासक्ति की अभिव्यंजना हेतु अपनी काव्य-भाषा का उपकरण बनाया है –

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते॥

उत्तर. ३२/५०

जो मनोज्ञ गंध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही जैसे विनाश को प्राप्त होता है जैसे नाग दमनी आदि औषधियों के गंध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

प्रत्यक्षतः सर्प दूसरों का घातक होता हुआ भी यहां गंध में आसक्त होता हुआ स्वयं ही अकाल में विनाश को प्राप्त होता है।

इंदियचोरवस्से (इन्द्रियचोरवश्यः)

विषयों में प्रवृत इन्द्रियां भीतर बैठे चैत्यपुरुष को सुला देती है। अतः यहां चोर के प्रतीक के रूप में 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग नवीनतम है –

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावे य तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे आवज्जई इंदियचोरवस्से॥

उत्तर. ३२/१०४

'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा' – इस लिप्सा से कल्प/योग्य शिष्य की भी इच्छा न करें। तपस्या के प्रभाव की इच्छा न करें और तप का प्रभाव न होने पर पश्चात्ताप न करें। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित विकारों को प्राप्त होता है।

इन्द्रियां ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षायोपशमिक भाव हैं। जब वे राग-द्वेषात्मक प्रवृति में लिप्त हो जाती हैं तब मनुष्य का धर्मरूपी सर्वस्व छिन जाता है। अतः चोर के प्रतीक के रूप में इन्द्रियों का साभिप्राय प्रयोग उपयुक्त है। यह रूपकात्मक प्रतीक है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त प्रतीकों का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन रचनाकार की प्रतीक-निर्मिति का अभिनव आयाम प्रस्तुत करते हैं। कवि कल्पना से निःसृत कुछ नए प्रतीक यहां भी प्रयुक्त हुए हैं। एक ओर कवि-कल्पना वस्तु जगत पर प्रतीकत्व का आरोप करती है तो दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान के अन्य स्रोतों के प्रतीकों के संग्रहण से भाषिक संरचना में नवीनता तथा रोमांचकता बढ़ जाती है। ऐसे प्रतीक भी हैं जो साहित्य जगत में अल्प-प्राप्त या अप्राप्त हैं – यह ऋषि की सृजनात्मक प्रतिभा का प्रमाण है। इस प्रकार बहुविध प्रतीक प्रयोग में रचनाकार सफल रहे हैं।

बिम्ब

बिम्ब कवि-मानस के चित्र एवं साहित्य के प्राण तत्त्व हैं, काव्यभाषा के अन्तरंग सहचर हैं। बिम्ब एक अमूर्त्त विचार अथवा भावना की पुनर्रचना है।[१६] यह पूर्णतः मानसिक व्यापार है और मस्तिष्क की आंखों से दिखाई देता है।[१७] शेक्सपियर ने कवि द्वारा अपने विचारों को उदाहृत, सुस्पष्ट एवं अलंकृत करने के लिए प्रयुक्त एक लघु शब्द चित्र को बिम्ब कहा है। कवि वर्ण्य विषय को जिस ढंग से देखता, सोचता या अनुभव करता है, बिम्ब उसकी समग्रता, गहनता, रमणीयता एवं विशदता को अपने भावों एवं अनुषंगों के माध्यम से पाठक तक सम्प्रेषित करता है।[१८] बिम्ब में चित्रात्मकता और इन्द्रियगम्यता आवश्यक है।[१९] नगेन्द्र के अनुसार काव्यबिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।[२०] वस्तुस्थिति अनुभूति दृश्य आदि की मानसिक प्रतिकृति प्रस्तुत करना बिम्ब है। किसी संवेग से उत्पन्न होकर उसी संवेग को पाठक के दिल में उत्पन्न कर देना बिम्ब की सफलता है।

बिम्ब की सत्ता विशेषण और क्रिया में रहती है। उपमा आदि अलंकारों के रूप में भी इनका अवतरण होता है।

काव्यवस्तु से कवि-मानस की तदाकारता बिम्बसर्जना की पहली शर्त है। इसके लिए काव्य के ऐन्द्रिय संवेगात्मक बोध तथा भावोद्रेककारी कल्पना-कौशल–इन दोनों की संयुति अपेक्षित है। इस प्रकार अमूर्त्त अनुभूतियों का मूर्तीकरण बिम्बात्मक भाषिक संरचना का प्रथम अनिवार्य पक्ष है तो उस

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तीकरण के माध्यम से सहृदय प्रमाताओं की काव्यवस्तु की तदाकारता दूसरा अपेक्षित पक्ष है।[२१]

अलंकार, प्रतीक, मुहावरे, लोकोक्तियां, लाक्षणिक प्रयोग, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव और मूर्त्त पदार्थों के इन्द्रिय ग्राह्य स्वरूप के वर्णन से बिम्ब का निर्माण होता है।

काव्य का परिवेश जितना दुरूह, सूक्ष्म और जटिल होता है, बिम्ब की आवश्यकता उतनी ही अधिक होती है। दृष्य जगत का प्रभाव ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन तक पहुंचता है। इसलिए जितने प्रकार के प्रभाव होते हैं उतने बिम्ब बनते हैं। काव्यबिम्बों के मुख्य रूप से दो भेद हैं–

१. बाह्य-इन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब,

२. अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

पांच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर बाह्य इन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब के पांच प्रकार हैं–श्रव्य-बिम्ब, चाक्षुष-बिम्ब, गंध-बिम्ब, रस-बिम्ब, स्पर्श-बिम्ब।

अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब के दो प्रकार हैं–भाव-बिम्ब, प्रज्ञा-बिम्ब।

उत्तराध्ययन की काव्यभाषा अन्तश्चेतना को उद्घाटित करने तथा दार्शनिक, आचारमूलक एवं नीतिपरक तत्त्वों के विवेचन को बिम्बायित करने में सफल हुई है। इसकी प्रस्तुति में मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं तथा सिद्धान्तों ने प्रमुख भूमिका निभाई है। इसका मुख्य आधार दृश्य जगत रहा है। रचनाकार ने वर्ण्य विषय का इतना स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जिससे पाठक के सामने वर्णनीय का रमणीय बिम्ब उपस्थित हो जाता है। चित्रात्मकता, भावात्मकता, ऐन्द्रियता, कल्पना आदि बिम्ब के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। यहां उसका अवलोकन-विश्लेषण काम्य है।

बाह्य-इन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

मनुष्य की श्रवण, रूप, गंध, रस, स्पर्श, आस्वाद-संवेदक इन्द्रियों की रागात्मक संतृप्ति जिन काव्यबिम्बों द्वारा संभव है वे क्रमशः श्रव्य, चाक्षुष, घ्रातव्य, स्वाद्य तथा स्पृश्य रूप ऐन्द्रिय-बिम्ब के अंतर्गत समाविष्ट हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रव्य-बिम्ब

कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बिम्ब को श्रव्य-बिम्ब ध्वनि-बिम्ब या श्रौत्र-बिम्ब कहते हैं। शब्दों की विविध तरंगें कर्णगत होकर सम्बन्धित राग-तंतुओं को प्रकंपित कर देती है। जहां शब्द के उच्चारण से ही सम्बन्धित कार्य की अभिव्यक्ति चेतना को झंकृत करती है वहीं शब्द-बिम्ब की सृष्टि हो जाती है।

कवि जब किसी वस्तुस्थिति का साक्षात्कार ध्वनि द्वारा कराने में प्रवृत्त होता है तब उसकी काव्यभाषा में अनायास श्रव्य-बिम्ब उभरने लगते हैं। पदार्थ, दृष्य, वस्तुस्थिति, व्यक्ति, परिवेश आदि मौन होते हुए भी मुखर हो उठते हैं।

'नमिपव्वज्जा' में प्रतीक के माध्यम से मिथिलावासियों की मनःस्थिति का बिंबन करने में मिथिला के प्रासादों एवं गृहों में कोलाहल युक्त दारूण शब्द श्रव्य-बिम्ब का सृजन कर रहे हैं–

वाएण हीरमाणंमि चेइयंमि मणोरमो।
दुहिया असरणा अत्ता एए कंदंति भो! खगा।। उत्तर. ९/१०

एक दिन हवा चली और उस मनोरम चैत्यवृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। हे ब्राह्मण! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीड़ित होकर आक्रन्दन कर रहे हैं।

नमि के अभिनिष्क्रमण के कारण पौरजन तथा राजर्षि के स्वजनों का आक्रन्दन पूरे मिथिला के वातावरण को कंपित कर देता है। ससीम शब्दों में भावों की तीव्रता को कवि ने सघन रूप में प्रस्तुत किया है। आक्रन्दन का हेतु अपना स्वार्थ है। स्वार्थ-विघटन का यह आक्रन्दन ध्वनि-बिम्ब का सुंदर निदर्शन है।

भोगों में आसक्त चक्री को जन्म-मरण के चक्कर से बचाने के लिए वार्तालाप के प्रसंग में चित्त मुनि की उर्वर कल्पना श्रव्य-बिम्ब का निदर्शन है–

पंचालराया! वयणं सुणाहि।
मा कासि कम्माइं महालयाइं।। उत्तर. १३/२६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचालराज! मेरा वचन सुन। प्रचुर कर्म मत कर।

यहां चित्त मुनि की अनुभूति, मूल भावना भोगों में लिप्त अपने बंधु ब्रह्मदत्त को श्रव्यबिम्ब के माध्यम से प्रचुर कर्म नहीं करने की प्रेरणा दे रही है। भाई का उत्कृष्ट संयम देखकर, सुखोपभोग के साधनों की सर्वसुलभता के बावजूद भी चक्री की चेतना को अनासक्तता का परिचय देना चाहिए था, पर ऐसा दृष्टिगत नहीं हो रहा है। चित्त की कामभोगों के परिणामों की भयंकरता की अनुभूति की तीव्रता श्रव्यबिम्ब से मुखर हो रही है।

श्रव्य-बिम्ब के अतिरिक्त 'पंचालराया!' शब्द सुनते ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि नेत्रेन्द्रिय के सामने उपस्थित हो जाती है। 'मा कासि' प्रचुर कर्म मत कर—यह वाक्य क्रिया बिम्ब का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है तो 'कम्माइं' शब्द से कर्म का भाव-बिम्ब पाठक को कर्म-सिद्धांत का रहस्य बताता है।

'एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं' एक धर्म ही संसार में त्राण है, वही हमें अपने शाश्वत घर – मोक्ष की ओर ले जाने में समर्थ है—

नागो व्व बंधणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं! उसुयारि त्ति मे सुयं॥ उत्तर. १४/४८

जैसे बंधन को तोड़ कर हाथी अपने स्थान पर चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान-मोक्ष में चले जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार! यह पथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है।

'ज्ञानियों से सुना' इस वचन में अध्यात्म की ध्वनि मुखरित हो रही है। यह ध्वनि-बिम्ब राजा इषुकार को संयमपथ का पथिक, अकिंचन, अपरिग्रही बनाने में सक्षम हुआ है।

यहां हाथी का अपने स्थान पर जाने से गमन-बिम्ब तथा बंधन को तोड़ने की क्रिया से क्रिया बिम्ब का भी उपस्थापन हो रहा है।

ऊंचे छत्र-चामरों से सुशोभित, दशार-चक्र से सर्वतः परिवृत्त अरिष्टनेमि विवाह के लिए जा रहे हैं, उस समय **'तुरियाण सन्निनाएण दिव्वेण गगणं फुसे'** (उत्तर. २२/१२) वाद्यों के गगनस्पर्शी दिव्यनाद पूरे नगर के साथ-साथ सहृदय पाठक के अन्तःस्थल को भी सरोबार कर श्रव्य

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिम्ब का निर्माण कर रहे हैं। साथ-साथ **'तुरियाण'** तथा **'गगणं'** शब्द रूप बिम्ब का भी निरूपण कर रहे हैं।

रागातुर शब्द अकाल में ही जीवनलीला को समाप्त कर देते हैं –

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं।।

उत्तर. ३२/३७

जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे–शब्द में अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हिरण मृत्यु को प्राप्त होता है।

इस शब्द-बिम्ब से यहां मनोज्ञ शब्द के परिणाम की भयंकरता का प्रतिपादन हो रहा है। आसक्ति के भाव बिम्ब का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अकाल-मृत्यु के भय बिम्ब का भी चित्रण हो रहा है।

चाक्षुष-बिम्ब

नेत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बिम्ब चाक्षुष बिम्ब कहलाता है। कवि की पारदर्शी अन्तर्दृष्टि ने वर्णित विषय को प्रमाता के एकदम निकटस्थ और प्रत्यक्ष कर चाक्षुष-बिम्ब की प्रस्तुति में सफलता प्राप्त की है।

'अदंसणिज्जे' आदि के द्वारा उपस्थापित बिम्ब से ब्राह्मणों की क्रोध से उत्तप्त दशा का साक्षात्कार होता है–

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओसि।।

उत्तर. १२/७

ओ अदर्शनीय मूर्ति! तुम कौन हो? किस आशा से यहां आए हो! अधनंगे तुम पांशु पिशाच से लग रहे हो। जाओ, आंखों से परे चले जाओ। यहां क्यों खड़े हो? लोक की दृष्टि में मुनि के रूप का भयंकर बिम्ब बन रहा है जिससे मुनि के बाह्य रूप का दृश्य आंखों के समक्ष सजीव हो रहा है। 'ओमचेलगा', 'पंसुपिसायभूया' आदि विशेषण इतने चित्रात्मक है, यदि कोई चित्रकार चाहे तो इन शब्दों के आधार पर पूरा चित्र निर्मित कर दे।

इषुकार नगर का वर्णन कर कवि ने उसकी ऋद्धि-समृद्धि का समग्र चित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित कर दिया है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरे पुराणे उसुयारनामे
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे॥ उत्तर. १४/१

इषुकार नामक एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान।

मृगापुत्र के प्रासाद का वर्णन पाठक के सामने प्रासाद के दृश्य को उकेर देता है –

मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणट्ठिओ।
आलोएइ नगरस्स चउक्कतियचच्चरे॥ उत्तर. १९/४

मणि और रत्न से जड़ित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था।

यहां मणि व रत्न से जड़ा आंगन सहृदय की आंखों में प्रासाद की भव्यता को उपस्थित कर देता है, जिसे देख वह रम्यता का अनुभव करता है।

मृगापुत्र श्रमण को देख अपने अतीत का साक्षात कर लेता है तथा भावों की निर्मलता का चित्र दृष्टि में उतार लेता है–

तं देहई मियापुत्ते दिट्ठीए अणिमिसाए उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं दिट्ठपुव्वं मए पुरा॥ उत्तर. १९/६

मृगापुत्र ने श्रमण को अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा—मैं मानता हूं कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।

यहां मृगापुत्र का रुचिर-बिम्ब गम्य है। यह अनिमेष दृष्टि ऊहापोह करते हुए पाठक को भी जातिस्मरण ज्ञान कराने में निमित्त बन सकती है।

उत्तराध्ययन के अनेक प्रसंग रूप बिम्ब की पूर्णता में परिणत हैं। राजीमती का अप्रतिम सौन्दर्य पाठक के सामने उसके रूप सौन्दर्य को साक्षात रूपायित कर देता है–

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारूपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा॥ उत्तर. २२/७

वह राजकन्या सुशील, चारू-प्रेक्षिणी, स्त्रियोचित सर्वलक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजकुमारी की आकर्षक आंखें, शरीर-सौष्ठव, अंगों की परिपूर्णता आदि से उसके अनिन्द्य रूप-लावण्य का प्रतिबिम्बन हो रहा है। 'सुसीला' शब्द से उसके उदात्त चरित्र की भी अभिव्यंजना हो रही है।

बिम्ब आरोपण द्वारा मूर्त्त-अमूर्त्त वस्तु को रूपायित करता है। चेतन पर अचेतन का आरोप विषय को सजीव बना देता है –

सव्वोसहीहि ण्हविओ कयकोउयमंगलो।
दिव्वजुयलपरिहिओ आभरणेहिं विभूसिओ।।
मत्तं च गंधहत्थिं वासुदेवस्स जेट्ठगं।
आरूढो सोहए अहियं सिरे चूड़ामणि जहा।। उत्तर.२२/९, १०

अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से नहलाया गया। कौतुक और मंगल किए गए, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभरणों से विभूषित किया गया। वासुदेव के मदवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती पर आरूढ़ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की भांति सुशोभित हुआ।

इन गाथाओं में रचनाकार की भाषा ने विवाह के समय अरिष्टनेमि के शृंगार का ऐसा दृश्य रूपायित किया है, जो पाठक को कभी ऊपर, कभी नीचे दृष्टि घुमाने को बाध्य कर देता है। यह रूप बिम्ब द्रष्टा के भीतर शांत चेतना को भी प्रवाहित कर रहा है।

यहां गंधबिम्ब, गत्यात्मक बिम्ब, यश का भाव-बिम्ब आदि के माध्यम से कवि की लेखनी संश्लिष्ट बिम्ब के सर्जन में प्रवृत्त हुई है। किसी एक अनुभूति को, रूपाकृति को केन्द्र बनाकर अन्तश्चेतना की विविध परतों को खोलने में कवि-चेतना सक्षम है।

एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा।।

उत्तर. ३२/१८

जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सभी आसक्तियां वैसे ही सुतर हो जाती है जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसी नदी।

यहां सर्वप्रथम गंगा की उज्ज्वल धारा आंखों के सम्मुख रूपायित होती है। गंगा का रूप बिम्बित होते ही उसके प्रति हृदय में श्रद्धा का संचार

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। फिर स्पर्श के द्वारा व्यक्ति उसमें विद्यमान शीतलता का अनुभव करता है और उसकी अखण्ड धारा से उत्पन्न श्रुतिमधुर कल-कल ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय को आनन्द प्रदान करती है।

रूप की आसक्ति आखिर मानव को भी अकाल में यमराज के द्वार पहुंचा देती है–

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

उत्तर. ३२/२४

जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

यहां पर 'रूप की मनोज्ञता' अभिलक्षित है। रूप-बिम्ब उत्कृष्ट है।

गंध-बिम्ब

घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषय गंध-बिम्ब की सर्जना करते हैं। शब्दों के व्यापार से सुगन्ध व दुर्गन्ध के मानस-संवेदन को उद्‌बुद्ध कर देना गंध-बिम्ब का कार्य है।

उत्तराध्ययन में पूतिकर्णी (सड़े कान वाली) कुतिया, सुगंधित जल आदि प्रसंगों के माध्यम से गंध-बिम्ब का सृजन हुआ है।

पूतिकर्णी कुतिया की भयंकर दुर्गन्ध पाठक के लिए घृणोत्पादक गंध-बिम्ब का सृजन कर रही है–

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई॥ उत्तर. १/४

सभी जगह से दुत्कारी हुई कुतिया का रूप-बिम्ब, अविनीत शिष्य की दुःशीलता और उसके तिरस्कार के भाव-बिम्ब का भी इस उदाहरण में चित्रण हुआ है।

तहियं गंधोदयपुप्फवासं दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुंदुहीओ सुरेहिं आगासे अहो दाणं च घुट्ठं॥

उत्तर. १२/३६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवों ने वहां सुगंधित जल, पुष्प और दिव्य धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहोदानम्' इस प्रकार का घोष किया। यहां दिव्य-पदार्थ परक घ्राणबिम्ब घ्राणेन्द्रिय की गंध-संवेदना की अनुभूति कराने में सक्षम है। दुन्दुभि की दिव्यध्वनि तथा 'अहोदानम्' का दिव्य घोष ध्वनि-बिम्ब का भी निदर्शन कराता है।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते।।

उत्तर. ३२/५०

जो मनोज्ञ गंध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों के गंध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

औषधियों की गंध में आसक्त रागातुर सर्प के बिम्ब से कवि मनोज्ञ गंध में अनुराग नहीं करने की प्रेरणा देता है। क्योंकि गंध के परिग्रहण से भी संतुष्टि नहीं होती तथा उसकी अतृप्ति व्यक्ति को दुःखी बनाती है।

'सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते' में रूपबिम्ब, गति-बिम्ब तथा विनाश का भाव-बिम्ब भी लक्षित होता है।

रस-बिम्ब

रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय रस-बिम्ब के विषय हैं। शब्दों के माध्यम से वस्तु की मिठास, कषैलापन आदि की अनुभूति सहृदय पाठक की जिह्वा तक पहुंच जाती है।

'मियापुत्तिज्जं' अध्ययन में मांस आदि के खिलाने से रसनेन्द्रिय को घृणोत्पादक स्वाद की अनुभूति मृगापुत्र के शब्दों में–

तुहं पियाइं मंसाइं खंडाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं अग्गिवण्णाइं णेगसो।। उत्तर. १९/६९

तुझे खंड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था–यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक की भयंकर वेदनाओं के विपाक-वर्णन में मृगापुत्र को अपने शरीर का मांस काट कर परमाधामी देवताओं द्वारा स्वयं उन्हीं को खिलाने का भयानक रस-बिम्ब यहां उजागर हो रहा है।

बीभत्स भाव को पैदा करने वाले गंध बिम्ब की प्रतीति भी प्राणी को पुनः वैसा दुष्कर्म नहीं करने का मौन संदेश दे रही है।

तुहं पिया सुरा सीहू मेरओ य महूणि य।
पाइओ मि जलंतीओ वसाओ रुहिराणि य।। उत्तर. १९/७०

इसी प्रकार तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएं प्रिय थीं, यह याद दिलाकर जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाना अप्रशस्त रस-बिम्ब की रचना कर रहा है। यहां घृणा के भाव बिम्ब का भी चित्रण हो रहा है।

रस के प्रति राग-द्वेष की भावना व्यक्ति को दुःखात्मक पीड़ा की ओर ले जाती है—

एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

उत्तर. ३२/६५

जो मनोज्ञ रस में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोज्ञ रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता है। जलकमलवत् मुनि की निर्लिप्तता का भाव-बिम्ब भी यहां द्रष्टव्य है।

स्पर्श-बिम्ब

त्वचा द्वारा ग्राह्य गुण स्पर्श है। स्पर्श से त्वचा में होने वाले संवेदनों के सजीव वर्णन से स्पर्श-बिम्ब का सृजन होता है। चेतना को छूकर रोमांचित कर देने वाली अनुभूति जगा देने में ही स्पर्श-बिम्ब की सफलता है।

स्पर्शजन्य आस्वाद का संवेदन मुख्यतः वहां संभव है, जहां विभिन्न पात्र परस्पर किसी राग-संवेदना के सूत्र में बंधे हों। उत्तराध्ययन में राग-संवेदना के प्रसंग तो नहीं के बराबर है किन्तु जीवन और जगत की कोमलता-कठोरता आदि विविध आयामी स्पर्श की अनुभूतियों का बिंबांकन कहीं कहीं हुआ है—

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरई गंडं विसूइया आयंका विविहा फुसंति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयमा! मा पमायए।।

उत्तर. १०/२७

पित्त रोग, फोड़ा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्रघाति रोग शरीर का स्पर्श करते हैं। जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

रोगातंक का यह स्पर्श-बिम्ब शरीर की शक्तिहीनता और विनष्टता का सूचक है।

मृगापुत्र द्वारा नरक की भयंकर वेदनाओं को सहन करने का स्पर्शजन्य अनुभव निम्नलिखित स्पर्श-बिम्ब का है–

जहा इहं अगणी उण्हो एत्तोणंतगुणे तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा अस्साया वेइया मए।। उत्तर. १९/४७

जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहां नरक में मैंने सही है।

गाथा में वर्णित नरक की वेदना का दाहक स्पर्श पाठक को भी अग्नि के समान दाहक-स्पर्श-बिम्ब प्रदान करता है।

अग्नि और नरक के रूप-बिम्ब का भी उपस्थापन हो रहा है।

स्थायी भाव के रूप में सम्राट् श्रेणिक के भीतर में सुप्त अनाथता की भावना को जागृत करने में अनाथी मुनि के 'महाराय', 'पत्थिवा' आदि उद्बोधन सक्षम बने हैं –

पढमे वए महाराय! अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो सव्वंगेसु य पत्थिवा!।। उत्तर. २०/१९

महाराज! प्रथम-वय में मेरी आंखों में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव! मेरा समूचा शरीर पीड़ा देने वाली जलन से जल उठा।

अनाथी मुनि की आंखों में उत्पन्न वेदना का यह दाहक-स्पर्श सहृदय पाठक को भी दुःखजन्य अनुभूति से अभिभूत करता है।

सुखात्मक स्पर्श क्षणिक सुख की अनुभूति में व्यक्ति को निमग्न कर अंत में कटु परिणाम को लक्षित करता है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे वरण्णे।।

उत्तर. ३२/७६

जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घडियाल के द्वारा पकड़ा हुआ। अरण्यजलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भैंसा।

आसक्ति के मोहपाश में नहीं बंधने की कवि-प्रेरणा इस स्पर्श-बिम्ब से ध्वनित हो रही है।

अन्तःकरणेन्द्रिय ग्राह्य बिम्ब

विविध भावनाएं–हास्य-शोक, सुख-दुःख, प्रसन्नता-विषाद आदि स्थायी व संचारी भाव भाव-बिम्ब के विषय हैं।

यश-अपयश आदि की अनुभूति के विषय एवं आत्मा, कर्म, ज्ञान, कैवल्य, मोक्ष आदि प्रज्ञा के विषय हैं।

भाव बिम्ब

यह अमूर्त्त बिम्ब का ही उपरूप है। भाव-बिम्ब हृदय में स्थित भाव की ओर प्रमाता को प्रवृत्त करता है।

'हरिएसिज्जं' अध्ययन में हरिकेशी का तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी, मोनी तथा श्रेष्ठ मोक्ष साधक के रूप में उत्कृष्ट बिम्ब प्राप्त होता है–

सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइंदिओ।। उत्तर. १२/१

चाण्डाल-कुल में उत्पन्न, ज्ञान आदि गुणों को धारण करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला हरिकेशबल नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था।

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं।।

उत्तर. १२/४६

अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा हद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शांतितीर्थ है, जहां नहाकर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूं। प्रस्तुत प्रसंग में धर्म, ब्रह्मचर्य आदि तथा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमलता, विशुद्धता आदि के भाव-बिम्बों के अतिरिक्त रूपकात्मक प्रयोग से जलाशय आदि का रूप-बिम्ब भी उपस्थित है।

कामभोग मुमुक्षु के लिए अहितकर है, सभी अनर्थों की जड़ है। कामभोग के परिणाम की दुःखद स्थिति का चित्रण करने वाला मार्मिक भाव-बिम्ब कवि के शब्दों में व्यक्त हुआ है।

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।

उत्तर. १४/१३

ये कामभोग क्षणभर सुख और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

इस बिम्ब से यहां काम-भावना की भयंकरता का प्रतिपादन हुआ है। सुख-दुःख आदि के साथ संसारचक्र का बिम्ब भी उपस्थित है।

अत्यधिक लालसाएं उसी प्रकार मनुष्य के जीवन को सत्त्वहीन कर देती है जैसे फूल में कोई कीट घुसकर उसे गन्ध-पराग से रहित कर देता है–

सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तवा।। उत्तर. १४/३९

यदि समूचा जगत तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

संसार में एक तृष्णा ही ऐसी है जो हमेशा युवा बनी रहती है, कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होती– 'तृष्णैका तरुणायते' तृष्णा का यह भाव-बिम्ब यहां प्रभावी ढंग से प्रस्तुत हुआ है। इसमें पाठक की चेतना को संसार में अत्राणता की अनुभूति कराने का सामर्थ्य है।

यहां अत्राण जगत का रूप-बिम्ब प्राणियों को धर्म की शरण के लिए प्रेरित करता है।

तिव्वचंडप्पगाढाओ घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ नरएसु वेइया मए।। उत्तर. १९/७२

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़, घोर, अत्यन्त दुःसह, भीम और अत्यन्त भयंकर वेदना का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।

यहां नारकीय वेदनाओं के भावबिम्ब की प्रभावी अभिव्यंजना हुई है।

आन्तरिक अनुराग की अनुभूति का साक्षात्कार कराने वाला भाव-बिम्ब है--

सोऊण रायकन्ना पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणंदा सोगेण उ समुत्थया।। उत्तर. २२/२८

अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुनकर राजकन्या राजीमती अपनी हंसी-खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

प्रत्यक्ष रूप से सर्वप्रथम यहां अरिष्टनेमि की दीक्षा का बिम्ब उभरता है। उसके बाद राजकन्या के रूप में राजीमती का श्रोताओं के सम्मुख चित्र की भांति आगमन तथा उसकी शोकगमन स्थिति भाव- बिम्ब की सशक्त अभिव्यंजना में समर्थ है।

संयम के लिए तत्पर अरिष्टनेमि और राजीमती को आशीर्वाद देते हुए श्रीकृष्ण का भाव बिम्ब द्रष्टव्य है--

वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसू तं दमीसरा।। उत्तर. २२/२५

वासुदेव ने लुंचितकेश और जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि से कहा--दमीश्वर! तुम अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं।
संसारसागरं घोरं तर कन्ने! लहुं लहुं।। उत्तर. २२/३१

वासुदेव ने लुंचित केशवाली और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा--हे कन्ये! तू घोर संसार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।

इस प्रसंग में कृष्ण के शुभ आशीर्वाद, दमीश्वर अरिष्टनेमि, जितेन्द्रिय राजीमती, संसार-सागर आदि का सुन्दर बिम्ब बना है। समुद्र की अगाधता, अथाहता और दुस्तरता के साथ संसार की तद्रूपता भी रूपक अलंकार द्वारा अभिव्यंजित है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजीमती को यथाजात अवस्था में देख भग्न चित्त रथनेमि उनसे भोगों की याचना करता है। तब संयमिनी राजीमती तिरस्कारभरी वाणी में कहती है–

गोवालो भंडवालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि।। उत्तर. २२/४५

जैसे गोपाल और भाण्डपाल गायों और किराने के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा। यहां 'भविस्ससि' क्रिया से निर्मित भावबिम्ब से गोपाल और भाण्डपाल के उपमान द्वारा रथनेमि के श्रमण जीवन का अस्वामित्व व्यंजित हो रहा है। क्योंकि संकल्प के वशीभूत होकर जो काम का निवारण नहीं करता वह श्रामण्य का स्वामी कैसे बनेगा?

ऋषि की रचना-अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में वासीचंदनतुल्यता का संदेश दे रही है –

सो एवं तत्थ पडिसिद्धो जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो उत्तमट्ठगवेसओ।। उत्तर. २५/९

वह महामुनि यज्ञकर्त्ता के द्वारा प्रतिषेध किये जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही हुआ, क्योंकि वह उत्तम अर्थ मोक्ष की गवेषणा में लगा हुआ था। यहां 'समता भाव' का सुन्दर बिम्ब बन रहा है।

प्रज्ञा-बिम्ब

उत्तराध्ययन की काव्यभाषा में प्रज्ञा-बिम्ब बहुलता से प्राप्त है। चक्रवर्ती, राजर्षि, राजकुमारों का पहले भोग भोगना, जीवन-मूल्य समझने के बाद प्रव्रज्या स्वीकार कर मोक्ष की ओर अग्रसर होना इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

ये प्रज्ञा-बिम्ब अनुकरणीय हैं। इनमें गहन चिन्तन और जीवन-मर्म का संदेश मानव-मात्र के लिए ग्रहण करने योग्य मोक्ष-तत्त्व के रूप में निहित है–

चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता, अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ।। उत्तर. १३/३५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामना से विरक्त और उदात्त चारित्र-तप वाला महर्षि चित्त अनुत्तर संयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुआ।

यह प्रज्ञा-बिम्ब कामनाओं के जाल से मुक्ति पाने के प्रशस्त विचार की ओर जिज्ञासुओं को उन्मुख करता है। संयम और सिद्धिगति का बिम्ब दर्शनीय है।

आत्मतत्त्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्रज्ञा-बिम्ब अद्वितीय है–

'नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।' उत्तर. १४/१९

आत्मा अमूर्त्त है इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह अमूर्त्त है इसलिए नित्य है।

आत्मा की इन्द्रिय अगोचरता तथा नित्यता के प्रखर सत्य का उद्‌घाटक यह प्रज्ञा-बिम्ब संयम के लिए समुत्सुक पुत्रों और पिता के बीच चल रहे वार्तालाप के प्रसंग में प्रासंगिक प्रतीत होता है। साथ ही किसी दार्शनिक के लिए कितना विराट, जटिल पर मार्मिक बिम्ब है।

रचनाकार की रचना में 'यत्र तत्र सर्वत्र' शुभ विचारों का संपुट दिखाई देता है। प्रत्येक गाथा प्रायः भावों के ताने और विचारों के बाने से बुनी मजबूत पट सी है, जिसमें अन्तर-जगत के यथार्थ की गहरी रंगत सहृदयों को अपने में निमग्न किए रहती है–

एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ।। उत्तर. १९/२३

इसी प्रकार यह लोक जरा-मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने आपको निकालूंगा।

अनंतकाल से जरा-मरण के वेग में बहने के कारण संसार से विरक्ति का प्रज्ञाबिम्ब मृगापुत्र के अन्तःकरण को उद्वेलित करता है और संसार की दयनीय स्थिति पाठक के दिल में संयम की भावना को उत्प्रेरित करने में समर्थ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उत्तराध्ययन में बिम्ब-विधान विवेचन प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि बिम्ब में भाव की सत्ता ही प्राण-प्रतिष्ठा करती है। बिम्ब के पक्षधर सी. डे. लेविस ने बिम्ब-निर्माण में कुछ आवश्यक गुण उद्‌बोधनशीलता, सघनता, नवीनता, औचित्य आदि माने हैं, वे उत्तराध्ययन में अनायास उपलब्ध हैं। रचनाकार की बिम्ब-सर्जना रचना का केवल बाह्य उपकरण ही नहीं है, मानवीय संवेदना तथा अध्यात्म चेतना की अतल गहराई तक पहुंचने का सोपान भी है और इस बिम्ब-निर्माण से मूर्त्त-अमूर्त्त भावों की अभिव्यक्ति, दार्शनिक सिद्धांत आदि अनुभूतिगम्य बने हैं।

सूक्ति एवं मुहावरे

सूक्ति काव्य की रमणीयता में वृद्धि करती है, रसवत्ता को उद्‌घाटित करती है, रोमांचकता को संवर्धित करती है। 'उत्तिविसेसो कव्वं'[२२] –उक्तिविशेष को काव्य कहते हैं।

सूक्ति : स्वरूप विवेचन

'सु' और 'उक्ति' के योग से 'सूक्ति' शब्द निष्पन्न है। यास्क ने 'सु' का अर्थ स्वीकृति (पूजार्ह) माना है।[२३] मेदिनी कोष में 'सु' को पूजा, अनुमति, आधिक्य, समृद्धि आदि अर्थों का द्योतक माना है।[२४]

'वच परिभाषणे'[२५] धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र से क्तिन् प्रत्यय तथा 'वचिस्वपियजादीनां किति' से सम्प्रसारण करने पर उक्ति शब्द बनता है। सु के साथ उक्ति के मिलन से सूक्ति शब्द निर्मित होता है। जिसका अर्थ है–सम्माननीय वचन, समृद्ध वाणी, उत्कृष्ट पदावली आदि।

वह वचन या उक्ति सूक्ति है जो संक्षिप्त होते हुए भी गंभीर अर्थवत्ता को धारण करती है। सूक्ति वह है जो सद्‌विचार का प्रतिनिधित्व और सदाचार का प्रवर्तन करे।

सूक्ति का प्रवर्तन क्यों?

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते।।[२६]

प्रबोध के लिए, विवेक जागरण के लिए, हित के लिए, शांति के लिए तथा सम्यक् तत्त्व के उपदेश के लिए सज्जनों की सूक्तियां प्रवर्तित होती हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम और सूक्ति

आगम-साहित्य अपनी महनीयता और उदात्तता के लिए प्रसिद्ध है। उसमें प्रचुर सूक्ति-भण्डार सुरक्षित है। भारतीय वाङ्मय के परिशीलन से विदित होता है कि प्राचीनकाल से ही साहित्य में प्रचुर सूक्तियां विद्यमान है। इसलिए जो साहित्य जितना पुराना है उतनी ही पुरानी उसकी सूक्तियां भी है। प्रत्येक युग में उनका सर्जन होता रहा है और साहित्य की हर विधा में उनका प्रवेश हुआ है। अध्यात्म, दर्शन एवं जीवनमूल्यों के उद्घाटन में आगमकार ने सूक्तियों का विनियोजन किया है। इन सूक्तियों का आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, साथ-साथ ये सूक्तियां जीवन व्यवहार के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

उत्तराध्ययन सूक्तियों का आकर ग्रंथ है। जीवन-सत्य सहज और संक्षिप्त कथन के रूप में अनायास शब्दबद्ध होकर चिरस्मरणीय सूक्तियों के रूप में प्रकट हुए हैं। शब्दों के अलंकार, छन्दों की लयबद्धता एवं भावों की गम्भीरता उत्तराध्ययन की सूक्तियों की मौलिक प्रभविष्णुता एवं अस्मिता की कारक है। ऋषियों की अन्तःप्रज्ञा ने सूक्ति द्वारा अनास्था, अनिश्चय तथा अकर्मण्यता के धुंधलाये परिवेश को चेतना के आलोक से भासित किया है।

सूक्ति संघटना के दो पक्ष हैं -- कलापक्ष और भावपक्ष। सूक्तियों के कलापक्ष की श्रेष्ठता उसमें प्रयुक्त कवि प्रतिभा पर है। अलंकार, छंद, भाषा, शैली आदि कलापक्ष के तत्त्व हैं।

कवि द्वारा पाठकों तक प्रेषणीय भाव या विचार की परिपक्वता, उत्कृष्टता आदि से सूक्तियों के भावपक्ष की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है।

यहां सूक्तियों के अध्ययन का आधार भाव-पक्ष और विचार-पक्ष को बनाया गया है।

सूक्ति के भाव और विचार-पक्ष का आश्रय लेकर अध्ययन की कई दिशाएं हो सकती हैं। साहित्यिक दृष्टि से सूक्ति के भाव-सौन्दर्य को परखा जा सकता है, सांस्कृतिक दृष्टि से लोक-जीवन की विविध विधाओं को जाना जा सकता है। आलोचनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से सूक्तियों का औचित्य एवं तुलनात्मक दृष्टि से कल्पना, भाव और विचार का साम्य-

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैषम्य देखा जा सकता है। कलात्मक, भावात्मक और विचारात्मक विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण भी किया जा सकता है।

सर्वांगीण अध्ययन के लिए इन सभी पक्षों को अपनाना उचित है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न कवियों में कल्पना, भाव और विचार का साम्य दिखाने का यत्न किया गया है।

सूक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली तत्त्व है उसमें अभिव्यक्त मानव-जीवन संबंधी तथ्य। मानव-जीवन अपने आप में इतना विशाल है कि उससे सम्बद्ध सभी तथ्यों का वैविध्य बताना संभव नहीं, फिर भी जीवन के जिस अंग को जितने अंशों में सूक्ति स्पर्श करती है उसका संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

सूक्ति-विभाजन

विषय की दृष्टि से उत्तराध्ययन की सूक्तियों का विभाजन इस प्रकार किया गया है–

१. पर्यावरण	२. अर्थशास्त्र
३. जीवन का सत्य	४. व्यक्तित्व-विकास
५. साधना की ओर	६. जैन सिद्धांत

पर्यावरण

पर्यावरण पर हमारा अस्तित्व अवलम्बित है। उसकी रक्षा परस्पर मैत्री, समानता और संयम आदि पर निर्भर है। हजारों वर्ष पूर्व स्वयं सत्य का साक्षात् कर महावीर ने एक सूक्त दिया 'पुढो सत्ता'[२७]–सबकी स्वतंत्र सत्ता है। अतः 'मेत्तिं भूएसु कप्पए'– सभी जीवों के साथ मैत्री करो, सबको अपनी ओर से अभयदान दो, किसी भी जीव को त्रस्त मत करो, बिना प्रयोजन एक मिट्टी के ढेले को भी इधर-उधर मत करो–महावीर की इस वाणी को मनुष्य आचरण में लाये, पर्यावरण की विकट समस्या से उबरने के लिए ये आध्यात्मिक सूत्र महत्त्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करते हैं।

त्रस्त न करें

सब जीवों को अपने समान समझनेवाला आत्मदर्शी साधक ही सुखी होता है। अतः हर साधक के लिए सतत स्मरणीय है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'न य वित्तासए परं' उत्तर. २/२०

दूसरों को त्रास न दे। मुनि त्रायि-षट्जीवनिकाय रक्षक होता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने तप-तेज व साधना की शक्ति से दूसरों के लिए भय का वातावरण उत्पन्न कर उन्हें त्रस्त न करें।

सत्य की खोज अपने पर अपना शासन है। स्वयं खोजा हुआ सत्य साक्षात्कार-युक्त होता है। उत्तराध्ययनकार सत्य की शोध का माध्यम प्रस्तुत करते हैं–

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' उत्तर. ६/२

स्वयं सत्य की गवेषणा करें। जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी होने के कारण मानता है कि व्यक्ति-व्यक्ति को सत्य की खोज करनी चाहिए। दूसरों के द्वारा खोजा गया सत्य दूसरे के लिए प्रेरक व निमित्त कारण बन सकता है, उपादान नहीं। विश्वमैत्री का सूत्र सत्य-गवेषणा की खोज में साधन बन सकता है।

विश्वमैत्री

संसार में सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी के लिए कष्टप्रद सिद्ध हो। जीव वैर से बंधकर नरक को प्राप्त होता है, अतः सबके साथ मित्रवत् आचरण करना चाहिए, शत्रुवत् नहीं –

'मेत्तिं भूएसु कप्पए' उत्तर. ६/२

सब जीवों के प्रति मैत्री करें। इसी के समकक्ष–'मित्ति मे सव्वभुएसु, वेरं मज्झ न केणई'[२८]–संसार के किसी भी प्राणी के प्रति मेरा वैर न हो, सबके साथ मैत्री हो।

'सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो'[२९]–संसार के सभी प्राणी परस्पर अवैरी हो, आपस में शत्रु भाव न रखें।

अभयदान

संसार में प्राणियों को मृत्यु का भय अत्यधिक है। जो किसी का प्राणहरण नहीं करता वह अभयदाता बन जाता है। तत्त्वदर्शी संयमी प्राणी जगत को अपने जैसा ही देखता है। वह अपनी ओर से सबको निर्भय बनाकर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरों को भी अभयदाता बनने की प्रेरणा देता है। इसलिए अंतर के आलोक से आलोकित गर्दभालि अनगार का अंतःस्वर गूंज उठा–

'अभयदाया भवाहि य' उत्तर. १८/११

तू भी अभयदाता बन। वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में भी अभय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्मपुराण में कहा है–

सर्वेषामेव दानानामिदमेवैकमुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्॥[३०]

सभी दानों में अभयदान ही उत्तम दान है, इससे उत्तम अन्य कोई दान नहीं है।

प्रकृति की व्यवस्था

प्रकृति को प्रकृति में रहने देने की प्रेरक है यह पंक्ति–

'पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं?' उत्तर. १९/७६

जंगल में हिरण और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है?

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का सूत्र है–इच्छा बढ़ाओ, उत्पादन बढ़ेगा। फलतः वहां तृष्णा, आकांक्षा, अपेक्षा अथवा इच्छाओं के अल्पीकरण का सिद्धांत मान्य नहीं है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र परा शान्ति का मार्ग निर्दिष्ट करता है। जितनी तृष्णा बढ़ती है, उतनी ही प्रवृत्ति बढ़ती है। जितनी प्रवृत्ति बढ़ती है, उतनी ही अशांति बढ़ती है। इसलिए आवश्यक है मनुष्य इच्छाओं का अल्पीकरण करे, आत्मत्राण का प्रयत्न करे।

तृष्णा

तृष्णा अपरिसीम है। येन-केन प्रकारेण इच्छापूर्ति की तीव्र लालसा तृष्णा है। तृष्णा एक प्रकार का उन्माद है, जो व्यक्ति को विवेक शून्य बना देता है। ऐसी तृष्णा कवि की दृष्टि में समादर नहीं पा सकी–

'भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया' उत्तर. २३/४८

तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है। तृष्णा से युक्त मनुष्य समृद्ध होने पर भी दरिद्र ही है, उसे सन्तुष्टि नहीं होती–'यावत् सतर्षः

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषो हि लोके तावत् समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः।'[३१] बाण के शब्दों में–'शक्याशक्य-परिसंख्यानशून्याः प्रायेण स्वार्थतृषः'[३२]–स्वार्थसिद्धि की तृष्णा के वशीभूत मनुष्य का संभव-असंभव का ज्ञान ही नष्ट हो जाता है।

अपरिमित इच्छाएं

धरती सभी का पोषण कर सके, इतना सामर्थ्य उसके पास है, पर इच्छा एक की भी पूरी कर सके, ऐसा सामर्थ्य उसमें नहीं है अतः विकास और प्रगति के नाम पर इच्छा के विस्तृत आकाश में विहरण असन्तुष्टि का ही जनक है –

'इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया' उत्तर. ९/४८

इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। कालिदास भी इच्छाओं की अनन्तता और अनिश्चितता के विषय में कहते हैं–

'मनोरथानामगतिर्न विद्यते'[३३] इच्छाएं इत्यलम् नहीं जानती।

त्राण कहां?

धन व्यक्ति को सुख-सुविधा दे सकता है, भोगविलास के साधन उपलब्ध करा सकता है पर आनन्द नहीं। भोगोपभोग की सामग्री क्षणिक सांसारिक सुख का अनुभव करा सकती है, किन्तु आखिर में उसका परिणाम विरसता ही है। धन से तृप्ति की आशा मृगतृष्णा के समान है। ऐसा धन किसी के लिए शरण नहीं हो सकता। शरण वही है जिससे जीवन में शांति तथा वास्तविक सुख का अनुभव होता है, निर्भय-भाव उत्पन्न होता है तथा आन्तरिक बल जागता है। इसलिए –

'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' उत्तर.४/५

प्रमत्त मनुष्य धन से त्राण नहीं पाता। उत्तराध्ययन की यह सूक्ति काठकोपनिषत् से साम्य रखती है– 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'[३४] धन से मनुष्य को तृप्ति नहीं हो सकती।

जीवन का सत्य

प्रभु महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक कठिन तप किया। प्रकाश प्राप्त कर कुछ ऐसे शाश्वत जीवन-सत्यों का उद्घाटन किया जिनके पुदग्ल आज भी एक साधक हृदय को आंदोलित करते हुए अनुगूंजित हो रहे हैं –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- संयम में पराक्रम दुर्लभ है।
- धन से धर्म नहीं होता।
- जो जानता है, मैं नहीं मरूंगा, वही कल की इच्छा कर सकता है।
- जीवन विद्युत् की चमक के समान चंचल है।
- मनुष्यों में अनेक अभिप्राय होते हैं।
- मन दुष्ट अश्व है।

जीवन के यही शाश्वत-सत्य सूक्तियों में गुम्फित हैं।

शक्ति से न्याय

जीवन में सफलता का महत्त्वपूर्ण साधन है पुरुषार्थ।

'ण हु वीरियपरिहीणो, पवतत्ते णाणमादीसु'–वीर्य से हीन ज्ञान आदि में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। निर्वीर्यः किं करिष्यसि? इसलिये कहा गया –

'वीरियं पुण दुल्लहं' उत्तर. ३/१०

पुरुषार्थ अत्यंत दुर्लभ है।

धन से धर्म नहीं

धन से कभी धर्म नहीं खरीदा जा सकता–

'धणेण किं धम्मधुराहिगारे' उत्तर. १४/१७

धर्म की धुरा को वहन करने के अधिकार में धन से क्या?

'अत्थो मूलं अणत्थाणं'[३५]– अर्थ तो अनर्थ का मूल है।

मृत्यु : एक शाश्वत सत्य

जन्म और मृत्यु का गठबंधन है। मृत्यु एक ऐसा तथ्य है, जिसे कोई टाल नहीं सकता। भोग में आसक्त मनुष्य के लिए वह एक ऐसा भयावह सत्य है, जिसे मनुष्य सदा भूले रहने की विडम्बना से अपने को जोड़े रखता है। अतएव मृत्यु की अनिवार्यता, अपरिहार्यता का स्मरण कराने के लिए व्यंग्यात्मक शैली मे कवि कहता है –

'जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया' उत्तर. १४/२७

जो जानता हो – मैं नहीं मरूंगा, वही कल की इच्छा कर सकता है।

भास इस सत्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले'[३६]

मृत्यु का समय उपस्थित होने पर कौन किसे बचा सकता है? काल हर समय उठा लेता है, बुढ़ापे की प्रतीक्षा नहीं करता–

'नित्यं हरति कालो हि स्थाविर्यं न प्रतीक्षते।'[३७]

आई हुई मृत्यु को टाला नहीं जा सकता–यह शाश्वत सत्य इस सूक्ति में प्रस्फुटित हुआ है।

क्षणभंगुरता

जीवन की क्षणभंगुरता का संदेश दे रही है यह पंक्ति–

'जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपायचंचलं' उत्तर. १८/१३

जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है।

इसी बात की पुष्टि पद्मपुराण में द्रष्टव्य है –

जलबुद्बुदवत्कायः सारेण परिवर्जितः।
विद्युल्लताविलासेन सदृषं जीवितं चलम्।।[३८]

शरीर पानी के बुलबुले के समान निःसार है तथा यह जीवन विद्युत् के समान चंचल है।

अभिप्राय-वैचित्र्य

संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति तथा भिन्न-भिन्न विचार वाले प्राणी होते हैं। मानव मन एक जटिल पहेली है–

'अणेगछन्दा इहमाणवेहिं' उत्तर. २१/१६

संसार में मनुष्यों में अनेक अभिप्राय/विचार होते हैं। विचारों को जान पाना कठिन कार्य है। कवि इसकी दुरूहता का वर्णन करते हुए कहते हैं–

'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः'[३९] चित्त की वृत्तियां विचित्र रूपों वाली हैं। इसी से रुचि-वैविध्य दृष्टिगोचर होता हैं– 'भिन्न रुचिर्हि लोकः'[४०] लोग भिन्न-भिन्न रूचियों वाले हैं। भिन्न रूचि और भिन्न-भिन्न संस्कारों के कारण मनोविचार एक से नहीं होते।

चंचल चित्त

जीवन के प्रायः समग्र कार्य-कलापों का मुख्य आधार मन है। व्यक्ति

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कुछ करता है, उसके मन में एक चित्र जैसा प्रारूप उत्पन्न होता है। मन की नैसर्गिक वृत्ति चंचलता है। जब मन पर विवेक का अंकुश नहीं रहता तो उच्छृंखलचित्त बड़े से बड़ा बिगाड़ कर देता है। इसलिए मन को दुष्ट अश्व से उपमित करते हुए कवि कहते हैं–

मणो साहसिओ भीमो। दुट्ठस्सो परिधावई। उत्तर. २३/५८

यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। 'मनश्चलं प्रकृत्यैव'[४१]– मन प्रकृति से ही चंचल है। शूद्रक ने भी मन को उन अश्वों की तुलना में रखा है जो तीव्रता से भागना चाहते हैं – 'वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं'।[४२] धम्मपद में कहा है– 'फन्दनं चपलं चित्तं, दुरक्खं दुन्निवारयं'[४३] – यह चित्त स्पन्दनशील है, चपल-अस्थिर है, इसे देख पाना कठिन है तथा यह दुर्निवार्य है।

व्यक्तित्व-विकास

विकास के इस युग में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है। प्रसाधनों से बाह्य व्यक्तित्व को आकर्षक बना लेता है किन्तु आन्तरिक व्यक्तित्व, अन्दर का सौन्दर्य कैसे निखरें? उसके मानदंड हैं –

१. सम्यक् दृष्टिकोण
२. सम्यक् विचार
३. सम्यक् आचार
४. सम्यक् व्यवहार

उत्तराध्ययन के प्रवक्ता ने सूक्तियों के माध्यम से व्यक्तित्व-विकास के भी सूत्र दिये हैं।

१. सम्यक् दृष्टिकोण

मिथ्या दृष्टिकोण की शिला को तोड़ने के लिए सम्यक् दृष्टिकोण एक सशक्त शस्त्र है। उससे आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त होती है। फिर व्यक्ति अपनी भूल देखता है, दूसरों के छिद्र नहीं।

परिष्कार कब?

सुधार का प्रथम चरण है अपनी गलती का स्वीकरण–

कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥ उत्तर. १/११

अकरणीय किया हो तो 'किया' और नहीं किया हो तो 'नहीं किया' कहें। व्यक्तित्व-विकास की इससे अधिक प्रेरक उक्ति क्या हो सकती है?

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे देखें?

अध्यात्म साधक अपने को देखता है, दूसरों को नहीं, इसी का संकेत है– **'न सिया तोत्तगवेसए' उत्तर. १/४०** छिद्रान्वेषी न हों।

२. सम्यक् विचार

जैन दर्शन का राजप्रासाद भाव पर आधारित है। भाव विचार का प्रवर्तक है। विचार बांधते हैं, विचार ही भटकाते हैं और विचार ही नवीन जीवन का सेतु बनते हैं। आवश्यक है सम्यक् विचार–

कब बोलें

'नापुट्ठो वागरे किंचि' उत्तर. १/१४

बिना पूछे कुछ भी न बोलें। मनुस्मृति में इसी के समकक्ष सूक्ति प्राप्त होती है –

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'[११४]

बिना पूछे किसी के बीच में नहीं बोलना चाहिए।

माया का वर्जन

भाषा के दोषों के परिहार का निर्देश देते हुए कहा गया –

'मायं च वज्जए सया' उत्तर. १/२४

माया का सदा वर्जन करें।

माया-कपट युक्त भाषा सदोष है, दुर्गति का कारण है। अतः माया का आचरण त्याज्य है।

३. सम्यक् आचार

हमारे व्यक्तित्व की उजली तसवीर हमारा अपना आचार है। सम्यक् आचार ही लक्ष्यप्राप्ति में सहायक बनता है।

अनुशासन का अंगीकार

शासन वही कर सकता है जिसने अनुशासन का जीवन जीया है। विकास के लिए अनिवार्य है अनुशासन को सहने की शक्ति। इसी ओर इंगित करती है यह पंक्ति–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अणुसासिओ न कुप्पेज्जा' उत्तर. १/९

अनुशासित होने पर क्रोध न करें।

सदाचार के मानक

क्षुद्रता असद् भाव है। इसके कारण दूसरे अवगुण सम्वर्धित होते हैं। क्षुद्र व्यक्ति स्वयं भी साधना में प्रगति नहीं कर सकता, दूसरों को भी नहीं करने देता। वह स्वभाव से ही असंयत तथा उच्छृंखल वृत्ति का होता है। अतः आगम-कार वैसे व्यक्तियों से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं–

खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए।। उत्तर. १/९

क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा न करें।

४. सम्यक् व्यवहार

संसार के प्रत्येक प्राणी के साथ सम्यक् व्यवहार के लिए आवश्यक है- आवश्यकता से अधिक न बोलें, समय का अंकन करें।

मितभाषिता

व्यवहार और नीति का क्षेत्र विशाल है। जीवन के हर क्षेत्र में उनका प्रवेश संभव है। अधिक बोलने की मनोवृत्ति पर प्रहार करते हुए कहा गया –

'बहुयं मा य आलवे' उत्तर. १/१०

बहुत न बोलें। इस संदर्भ में बाण का यह कथन बहुत मार्मिक है –

'बहुभाषिणो न श्रद्दधाति लोकः'[४५] बहुत बोलने वाले पर संसार विश्वास नहीं करता। दैनिक व्यवहार में अतिभाषी के प्रति औरों का व्यवहार बदल जाता है, इस व्यवहारिक तथ्य के साथ मितभाषिता अपनाने की नीति का निदर्शन 'बहुयं मा य आलवे' सूक्ति से हुआ है।

समय

जीवन में व्यवस्था, नियमन एवं अनुशासन अपेक्षित है। अव्यवस्थित, अनियमित, अननुशासित जीवन कभी हितावह व सुखावह नहीं होता। श्रमण के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है कि उसका प्रत्येक कार्य सुनिश्चित समय पर हो। समय की महत्ता का गान सीधी, सटीक भाषा में–

'काले कालं समायरे' उत्तर. १/३१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

कोसिय जातक में कहा गया–

काले निक्खमणा साधु, नाकाले साधु निक्खमो
अकालेन हि निक्खम्म, एककम्पि बहुजनो ।
न किंचि अत्थं जोतेति, धयसेना व कोसियं।।[४६]

साधु समय पर निष्क्रमण करे, असमय में नहीं। अकाल में जाने से एकाकी को बहुजन मार गिराते हैं।

समय का महत्त्व हर चिन्तक और मनीषी अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित करते हैं। उत्तराध्ययनकार ने समय के अंकन को सूक्ति के द्वारा जीवन के पर्याय के रूप में 'दुमपत्तयं' अध्ययन की गाथाओं के साथ प्रस्तुत किया – **'समयं गोयम! मा पमायए,** उत्तर. १०/१

हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। समय के महत्त्व को उजागर करते हुए गौतम के माध्यम से जागरूकता का संदेश प्राणियों को देने के लिए भगवान महावीर ने एक ही अध्ययन में छत्तीस बार इस सूक्ति का प्रयोग किया। चाणक्य सूत्र में इसे इस रूप में प्रस्तुत किया –

'क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु'[४७]

मनुष्य सभी कार्यों में क्षण मात्र भी विलम्ब न करें।

साधना की ओर

मनुष्य के भीतर अनंत सुख है, किन्तु उन पर आवरण आया हुआ है। उस सुख को देखने के, प्राप्त करने के दरवाजे बंद हैं। उसके लिये साधना की ओर अग्रसर होने की आवश्यकता है। हमारी इन्द्रियां जो बहिर्मुखता की ओर भाग रही हैं, साधना के द्वारा उन्हें अन्तर्मुखता में लायें। इन्द्रियों की दिशा बदलें तब दरवाजें खुलते नजर आएंगे। प्रज्ञा, श्रद्धा, अनासक्ति आदि अपना वर्चस्व स्थापित कर बंद दरवाजों को खोलने का प्रयास करती हैं। तब होता है आवरण से अनावरण की ओर प्रस्थान।

त्याज्य हैं क्रोध

असत् का वर्जन और सत् का स्वीकरण ही धार्मिक जीवन की आधार-शिला है। यही श्रेयस् का मार्ग है। क्रोध अपनी शक्ति से संसार को

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा अन्धा और बहरा बना देता है कि विद्वान और महान व्यक्ति भी उचित-अनुचित के विचार से रहित हो जाते हैं। उस अवस्था में मनुष्य विनाशकारी दृष्टि अपनाता है। अतएव कल्याण-पथ का कंटक क्रोध आगमकार की दृष्टि से त्याज्य है–

'कोहं असच्चं कुवेज्जा' उत्तर. १/१४

क्रोध को विफल करें। बाण के शब्दों में–

'न हि कोपकलुषिता विमृशति मतिः कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं वा'[४८]

क्रोध से मैली बुद्धि करणीय या अकरणीय का विचार नहीं कर सकती। क्रोध और सुख की अभिलाषा साथ नहीं रह सकती–'ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।'[४९] क्रोध के दुष्परिणामों को देखते हुए सूक्ति-संदेश है कि क्रोध आ भी जाए तो उसे सफल नहीं होने दें, प्रकट होने का अवसर न दें। 'उवसमेण हणे कोहं' उपशम से क्रोध का हनन करें।

द्वेष से उपरत

द्वेष और राग– ये कर्म के बीज है, आत्मधर्म के बाधक तत्त्व हैं। दूसरों के द्वारा परीषह उत्पन्न किए जाने पर भी मुनि अपने चित्त को मलिन न बनाएं अपितु आत्मरमण में लीन रहे। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' साधक को मन की सजगता का संदेश देता है ये कथन–

'मणं पि न पओसए' उत्तर. २/११

मन में भी द्वेष न लाए। अथर्ववेद में कहा गया–'मा नो द्विक्षत् कश्चन्'[५०]–विश्व में मुझसे कोई भी द्वेष न करें। यह तभी संभव है जब हम मन में भी किसी के प्रति द्वेष न लाए। राग और द्वेष का अक्षण ही तटस्थता का क्षण है, ध्यान का क्षण है। अतः साधना की दृष्टि से इस सूक्ति का अपना मूल्य है।

श्रद्धा

श्रद्धा एक ऐसा अन्तर्विश्राम है, जिसका आश्रय शान्ति का अनुभव कराता है। तर्क, चिन्तन आदि का परिपाक श्रद्धा में प्रस्फुटित न हो तो क्रियान्वयन की भूमिका प्राप्त नहीं होती और उसके बिना जीवन का लक्ष्य

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सधता। श्रद्धा साधक जीवन का आधार है, सफलता की जननी है और लक्ष्य तक पहुंचने का प्रकृष्ट पाथेय है। श्रद्धा को सिद्धि तक बनाये रखना कठिन है। श्रद्धा परम आवश्यक होते हुए भी परम दुर्लभ है, इस तथ्य को अभिव्यंजित करते हुए कवि कहते हैं–

'सद्धा परमदुल्लहा' उत्तर. ३/९

श्रद्धा परम दुर्लभ है। श्रद्धा की महिमा सर्वत्र अनुगूंजित है। सत्य की प्राप्ति श्रद्धा से होती है।[५१] श्रद्धा के महत्त्व के विषय में आचार्य महाप्रज्ञ का चिंतन है–'श्रद्धा स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म।'[५२]

अप्रमत्तता

प्रमाद का अर्थ है – अपने स्वरूप की विस्मृति। मूल स्वरूप में स्थिर रहना अप्रमाद है। साधना के पथ पर आरूढ़ साधक का पथ जागरण का पथ है, उत्थान का पथ है। उसमें यदि जरा भी शैथिल्य, असावधानी आ जाये सारा कार्य चौपट हो जाता है। लक्ष्य के वेधन के लिए कर्त्तव्य पथ पर स्थिर रहना आवश्यक है। अतः अपेक्षित है प्रज्ञाशील सदा जागरूक रहे –

'भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो' उत्तर. ४/६

भारण्ड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करें।

अप्रमत्तता का संदेश लगभग सभी दर्शनों ने दिया है। 'स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्'[५३] अर्थात् किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए अपने घर में सदा जागृत रहे। मुण्डकोपनिषद् में कहा है– 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्'[५४] बाण के समान तन्मय होकर पूर्ण सावधानी के साथ लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। तात्पर्य है–परम के साक्षात्कार के लिए अप्रमाद श्रेष्ठ साधन है।

साधना का विघ्न : काम-भोग

काम विकृति जनक है। काम-भोगों से मोह उत्पन्न होता है। मोह से वैषयिक आसक्ति बढ़ती है। व्यक्ति अपना भान भूल जाता है। काम-भोग जन्म-मरण के संवर्धक, मोक्ष के विपक्षी तथा अनर्थों की खान है। अतः कहा गया–

'सव्वे कामा दुहावहा' उत्तर. १३/१६

सब काम-भोग दुःखकर हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष-सुख में काम-भोग बाधक हैं। थेरगाथा इसका प्रमाण है–'मा अप्पकस्स हेतु काम सुखस्स विपुलं जहि सुखं'[५५] –तुच्छ वैषयिक सुख के लिए विपुल सुख को मत गंवाओ।

'कामपंको दुरच्चयो'[५६]– काम का कीचड़ दुस्तर है। 'कामाकटुका असिविसूपमा'[५७] – कामभोग कटुक हैं। वे आशीविष सर्प के भयावह विष की तरह हैं।

सत्य

साधक के लिए वाणी का सम्यक् प्रयोग बहुत आवश्यक है। सत्य संसार का सार है। उत्तराध्ययन का ऋषि सत्य बोलने का निर्देश देता है –

'भासियव्वं हियं सच्चं' उत्तर. १९/२६

हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए। अथर्ववेद में कहा 'असन्नस्त्वासत इन्द्रवक्ता'[५८]– हे इन्द्र! असत्य भाषण करने वाला असत्य/लुप्त ही हो जाता है। मनुस्मृति में इसी बात की ओर संकेत किया गया है –

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥[५९]

योगशास्त्र में भी कहा गया –

असत्यवचनं प्राज्ञः प्रमादेनापि नो वदेत्।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते वात्येव महाद्रुमाः॥[६०]

प्राज्ञ को प्रमादवश असत्यवचन नहीं बोलना चाहिए क्योंकि असत्य से कल्याण का वैसा ही नाश होता है, जैसे आंधी से बड़े-बड़े वृक्षों का।

न ह्यसत्यात् परो धर्म इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥[६१]

पृथ्वी ने कहा कि असत्य से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। मैं सब कुछ सहने में समर्थ हूं, पर असत्य भाषी का भार मुझसे नहीं सहा जाता है।

अनासक्ति

इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्त भाव तथा पदार्थ के प्रति ममत्व का परित्याग अनासक्ति है। अनासक्ति से चित्त की प्रसन्नता, निर्मलता तथा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम संतोष का उदय होता है। ऐसा वीर्य व उत्साह प्राप्त होता है कि उसके लिए कोई कार्य दुष्कर नहीं रहता –

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं। उत्तर. १९/४४

इस लोक में जो पिपासा रहित है, अनासक्त है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

दुःख का मूल

अतुल वीर्य एवं शौर्य की प्रदात्री अनासक्ति के परिणाम से सभी दुःख दूर हो जाते हैं। रचनाकार का स्पष्ट उद्घोष है कि आसक्ति सभी दुःखों का मूल है –

'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं' उत्तर. ३२/१९

कामभोगों की अभिलाषा से दुःख उत्पन्न होता है।

सहिष्णुता

लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में सम रहना, इन्हें सहन करना सहिष्णुता है। इनमें एक-रूप रहेगा वही मोक्ष मार्ग की ओर आगे बढ़ सकता है। इसलिए कहा गया है –

'पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा' उत्तर. २१/१५

भिक्षु प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे। भारवि ने सहन करने को सब दृष्टि से सिद्धि-प्रदान करने वाला कहा है –

'न तितिक्षासममस्ति साधनम्'[६२]–सहनशीलता जैसा कोई अन्य साधन नहीं। बाण ने 'क्षमा हि मूलं सर्वतपसाम्'[६३]–सब तपस्याओं का मूल क्षमा को माना।

प्रज्ञा

धर्म का सम्बन्ध प्रज्ञा से है। प्रज्ञाहीन पुरुषार्थ द्वारा धर्म के यथार्थ स्वरूप का आकलन नहीं किया जा सकता। उत्तराध्ययन के कर्त्ता ने इसका सही अंकन किया है –

'पण्णा समिक्खए धम्मं' उत्तर. २३/२५

धर्म की समीक्षा प्रज्ञा से होती है। सुत्तनिपात में प्रज्ञामय जीवन को ही श्रेष्ठ जीवन कहा है--'पञ्ञाजीविं जीवितमाहु सेट्ठं।'[६४]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रज्ञा सुत्तविनिच्छनी'[६५]—प्रज्ञा द्वारा श्रुत का विशेष निश्चय होता है।

बाधक है स्नेह

स्नेह अर्थात् चिपकना। जहां चिपकना है, वहां संकीर्णता है। संकीर्णता से मूल रूप विलुप्त हो जाता है। इसलिए ममत्व भाव का भेदन किए बिना मुक्ति संभव नहीं। क्योंकि—

'नेहपासा भयंकरा' उत्तर. २३/४३

स्नेह भयंकर पाश है। 'स्नेहमूलानि दुःखानि'[६६] स्नेह दुःख का मूल कारण है। सुत्तनिपात में कहा—

'संगो एसो परित्तमेत्थ सौख्यं अप्पऽसादो दुक्खमेत्थ भिय्यो'[६७]

स्नेह दुःख प्रसूति का हेतु है। यह संग सीमित सुख देने वाला है, अल्प-स्वाद है, विपुल दुःखप्रद है। प्रशस्त स्नेह भी आत्मा की मुक्ति में बाधक है। महावीर के प्रति गौतम का स्नेह ही गौतम की केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक बना।

विक्तवास

मुनि की साधना की पूर्णता एवं भिक्षु जीवन की सफलता एकान्तवास पर निर्भर है —

'विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो' उत्तर. ३२/१६

मुनियों के लिए विविक्तवास प्रशस्त कहा गया है।

जैन सिद्धांत

जैन दर्शन वीतरागता का दर्शन है। इसलिए जैन दर्शन को आत्मवाद, कर्मवाद आदि कुछ ऐसे सिद्धांत विरासत में मिले हैं, जो अपनी मौलिक विशेषता रखते हैं। कर्मवाद की गहराई में जाकर हम अपने आपको समझ सकते हैं तो दूसरी ओर स्वयं सत्य की खोज के द्वारा अमूर्त आत्मा का प्रत्यक्षीकरण भी कर सकते है। उत्तराध्ययनकार ने ऐसे गहन सिद्धान्तों को सूक्तियों के माध्यम से समझाया है।

अविनाशी आत्मा

महर्षि यास्क ने आत्मा शब्द को 'अतति सततं गच्छति व्याप्नोति वा

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा'[६८] जो सतत गतिमान व सर्वव्यापी है, वह आत्मा है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। इसलिए आक्रोश, हनन, मारण आदि के प्रसंग में भिक्षु को आत्मा की अमरता का संदेश देते हुए कहा गया –

'नत्थि जीवस्स नासो त्ति' उत्तर. २/२७

आत्मा का कभी नाश नहीं होता। काठकोपनिषत् में कहा गया–'नायं हन्ति न हन्यते'[६९] – यह आत्मा न मरता है न मारा जाता है। रचनाकार के इस तथ्य की तुलना गीता के इस श्लोक से भी कर सकते है–

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायंभूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥[७०]

यह आत्मा न जन्मता है न मरता है। एक बार अस्तित्व में आने के बाद कभी समाप्त नहीं होता। यह अजन्मा, शाश्वत, नित्य और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरता।

कर्म

'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' उत्तर. ४/३

किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

कालिदास और बाणभट्ट ने भी इस दार्शनिक तथ्य को स्वीकारा है – 'परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्'[७१] –परलोक पाने वाले मनुष्यों की गतियां अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्ग वाली होती हैं। बाणभट्ट कहते हैं–किए हुए अपने कर्म के परिणाम से कोई बच नहीं सकता 'आत्मकृतानां हि दोषाणां नियतमनुभवितव्यं फलमात्मनैव।'[७२] स्वयं किए हुए दोषों का फल भी स्वयं को ही अवश्य अनुभव करना पड़ता है–'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'–इस लोकोक्ति से यह सूक्ति तुलनीय है।

आगमकार ने कर्म पर बल दिया है। कर्मवाद के प्रसंग में 'वत्सो विन्दति मातरं' की उक्ति को स्पष्ट करने वाली सूक्ति है–

'कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं' उत्तर. १३/२३

कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

कृत-कर्म के अनुसार प्राणी अकेला ही सुख-दुःख का संवेदन करता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। 'न हि नस्सति कस्सचि कम्मं, एति ह नं लभतेव सुवामि'[७३] किसी का कृत-कर्म नष्ट नहीं होता, समय पर कर्त्ता को वह प्राप्त होता ही है। उपनिषद्कार का कहना है–

यथाकारी यथाचारी तथा भवति– साधुकारी साधुर्भवति,

पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।[७४] जो जैसा आचरण करता है वह वैसा ही हो जाता है। साधु कर्म करने वाला साधु और पाप कर्म करने वाला पापी हो जाता है।

उपशांत कषाय

संयम जीवन अपनाने वाले हर संन्यासी के गुणों की विशेषता कवि ने दिखायी है–

महप्पसाया इसिणो हवंति। न हु मुणी कोवपरा हवंति। उत्तर. १२/३२

ऋषि महान प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।

कब संभव है आत्मा का प्रत्यक्षीकरण

साध्य के अनुरूप ही साधन की अपेक्षा होती है। मूर्त्त इन्द्रियों के साधन से अमूर्त्त आत्मा का दर्शन कैसे संभव है? इसी विवक्षा से आत्मा की अमूर्त्तता की अभिव्यक्ति आगमकार के शब्दों में–

'नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा' उत्तर.१४/१९

आत्मा अमूर्त्त है इसलिए इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियां मूर्त्त द्रव्य का ही ग्रहण करती हैं। आत्मा अमूर्त्त है अतः इन्द्रियों का विषय नहीं है। आत्मा स्वयं अद्रष्ट है पर सबको देखता है–कहकर व्यक्त किया गया। महाभारत में इसे 'न ह्यात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः,'[७५] आत्मा का इन्द्रियों द्वारा दर्शन नहीं किया जा सकता–इस प्रकार प्रस्तुत किया गया।

आत्मा ही स्वयं का नाथ है–

'अप्पणा अणाहो संतो कहं नाहो भविस्ससि?' उत्तर. २०/१२

स्वयं अनाथ होते हुए दूसरों के नाथ कैसे होओगे? यह पद धम्मपद से तुलनीय है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अत्ताहि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परे सिया?'[७६] आपकी अपनी आत्मा ही अपना नाथ है, दूसरा कौन उसका नाथ हो सकता है?

वर्ण-व्यवस्था

कवि अपने संचित अनुभवों को समाज तक पहुंचाने के लिए भी सूक्ति का प्रयोग करता है। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन बहुत प्राचीन समय से है। वर्ण-व्यवस्था को पूर्ण मान्यता प्राप्त थी, परन्तु जहां कर्म करने का प्रश्न है, वह वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हो, यह आगमकार की दृष्टि से आवश्यक नहीं। क्योंकि व्यक्ति का अनुभव, उसकी शक्तियां, उसका चरित्र प्रमाण होता है। अतः आगमकार ने जन्मना जातिवाद के विरूद्ध यह स्वर मुखर किया–

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा। उत्तर. २५/३१

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। कर्मणा जाति व्यवस्था को धम्मपद भी स्वीकार करता है–

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चच धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो।।[७७]

भास की सूक्ति– 'अकारण रूपमकारणं कुलं, महत्सु नीचेसु च-कर्म शोभते'[७८]–रूप और कुल से क्या? कर्म ही महान और नीच में शोभित होता है। भास का यह विचार उत्तराध्ययनकार की उपर्युक्त सूक्ति से तुलनीय है।

चारित्र से पूर्व

लक्ष्यप्राप्ति के लिए चारित्र आवश्यक है। किन्तु यदि दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चारित्र यथार्थ नहीं होगा। इसलिए उत्तराध्ययन में चारित्र से दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया कि–

'नत्थि चरित्तं-सम्मत्तविहूणं' उत्तर. २८/२९

सम्यक्त्व विहीन चारित्र नहीं होता।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोभ

धरती व आसमान के बीच रहने वाला मनुष्य सारी धरती और आसमान पर अपना आधिपत्य चाहता है। यह इच्छा लोभ को जन्म देती है। लोभ रूपी अन्धकार से आवृत मनुष्य की विवेकचेतना सुप्त रहती है। अतः वह करणीय और अकरणीय को नहीं जानता हुआ चोर-कार्य में प्रवृत्त होता है –

'लोभाविले आययई अदत्तं' उत्तर. ३२/२९

लोभ से कलुषित आत्मा चोरी में प्रवृत्त होती है। इतिवुत्तक से यह तुलनीय हैं–

लुद्धो अत्थं न जानाति, लुद्धो धम्मं न पस्सति।
अन्धतमं तदा होति, यं लाभो सहते नरं।[७९]

लोभी न परमार्थ को समझता है, न धर्म को। वह तो धन को ही सब कुछ समझता है। उसके भीतर गहन अन्धकार छाया रहता है।

इस प्रकार इन सूक्तियों के माध्यम से उत्तराध्ययन का स्रष्टा पाठक के हृदय में ऐसी भावनाएं जगाना चाहता है, जो उसे मनुष्य जीवन की दुर्लभता का ज्ञान कराए तथा धार्मिक आस्था उत्पन्न कर शाश्वत सुख की ओर अग्रसर करें। सूक्तियों में कवि की यह प्रेरणा मुखरित हो उठी है। ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है, जिससे जीवन उदात्त एवं लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। सिद्धांतों की पुष्टि, मानवीय-मनोभाव, उपदेश व आचरण विशेष के औचित्य की सिद्धि द्वारा अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने में सूक्तियों का प्रयोग कर कवि ने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है।

मुहावरे

लाक्षणिक या व्यंग्यार्थ में रूढ़ वाक्य अथवा वाक्यांश के प्रयोग को मुहावरा कहते हैं। यह मूलतः अरबी भाषा का एक शब्द है। काव्य में मुहावरों का प्रयोग अर्थगत चमत्कार उत्पन्न करता है तथा भाषा को प्रभावशाली बनाता है।

जब वक्ता या लेखक अपने भावों की अपेक्षित अभिव्यक्ति में सामान्य प्रयोग तथा सामान्य भाषा को असमर्थ पाता है तो वह सामान्य प्रयोग की कारा को तोड़कर विचलन करता है। नये मुहावरों का जन्म इसी विचलन से होता है।[८०] उत्तराध्ययन की काव्य भाषा अध्यात्म चेतना की निदर्शक है, पर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहीं-कहीं मुहावरों के माध्यम से रचनाकार की लोकधर्मी काव्यभाषा की झलक भी प्राप्त होती है। यथा–

१. 'गिरिं नहेहिं खणह'[८१] (नखों से पर्वत खोदना) इस भिक्षु का अपमान कर रहे हो, तुम नखों से पर्वत खोद रहे हो।

२. 'जायतेयं पाएहि हणह'[८२] (पैरों से अग्नि प्रताड़ित करना) पैरों से अग्नि को प्रताड़ित कर रहे हो।

३. 'बाहाहिं सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही'[८३] (भुजाओं से सागर तैरना) भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि संयम को तैरना कठिन कार्य है।

४. 'वालुयाकवले चेव निरस्साए उ संजमे'[८४] (बालू के कोर की तरह स्वाद रहित) संयम बालू के कोर की तरह स्वाद रहित है।

५. 'असिधारागमणं चेव'[८५] (तलवार की धार पर चलना) तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।

६. 'अहिवेगंतदिट्ठीए'[८६] (सांप की तरह एकाग्रदृष्टि) चारित्र का पालन सांप की एकाग्रदृष्टि के समान कठिन है।

७. 'जवा लोहमया चेव चावेयव्वासुदुक्करं'[८७] –(लोहे के चनों को चबाना) लोहे के चनों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चरित्र का पालन कठिन है।

८. 'जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्करं'[८८] (प्रज्वलित अग्नि-षिखा पीना) जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा को पीना बहुत ही कठिन है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन है।

९. 'जहा दुक्खं भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो'[८९] (वस्त्र के थैले को हवा से भरना) जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्त्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन कठिन कार्य है।

१०. 'जहा तुलाए तोलेउं दुक्करं मंदरो गिरी'[९०] (मेरू-पर्वत को तराजू से तोलना) जैसे मेरू-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत कठिन है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत कठिन है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन के मुहावरे मानव-मन को संदर्भों की गहराई की अनुभूति कराने में सक्षम हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ -

१. गीता रहस्य, पृ. ४३५
२. श्रीमद् भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. २३२
३. डॉ. विद्या-निवास मिश्र, रीति-विज्ञान, पृ. ५७
४. काव्यबिम्ब, पृ.७-८
५. साहित्यशास्त्र, पृ. ४६९
६. संस्कृत धातुकोष पृ. ३६
७. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४८२: लाढेसु अ उवसग्गा, घोरा .....। ततो भगवान् लाढासु जनपदे गत: तत्र घोरा उपसर्गा अभवन्।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधान:।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १५६ : यथाऽसौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेक्खी परिव्वए।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १८२ : बहूणं दुप्पयचउप्पदपक्खीणं च।
११. निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृ. ४९५।
१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००
१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७ : 'शिरं' ति शिर इव शिर: सर्वजगदुपरिवर्तितया मोक्ष:।
१४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६, ४५७
१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३
१६. Poetic Process, Page 145
१७. "The term image is - For a purely mental idea, being observed by the eye of mind," Ens. Of Britannica 12. 103.
१८. Imagry and what it tell us p. 9.
१९. (क) काव्यशास्त्र, पृ. २४४।
(ख) आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान पृ. २३।
२०. काव्यबिम्ब, पृ. ५।
२१. भवानीप्रसाद मिश्र की काव्यभाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. १५४
२२. राजशेखर, कर्पूरमंजरी १/७।
२३. 'सु इत्यभिपूजितार्थे' निरुक्त, १/३।
२४. 'सु पूजायां भृषार्थानुमति—च्छ्रसमृद्धिषु' मेदिनीकोष, अव्ययवर्ग ७९ पृ. १८५।
२५. संस्कृत धातुकोष, पृ. १०९।
२६. ज्ञानार्णव, पीठिका, ८।
२७. दसवेआलियं ४/सू.४।
२८. श्रमणसूत्र, ३०/३।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. पटिसम्मिदामग्गो १/१/१/६६।
३०. पद्मपुराण, ५/१८/४३८।
३१. सौन्दरनन्दकाव्य, १८/३०।
३२. हर्षचरित, तृतीय उच्छवास, पृ. १६३।
३३. कुमारसंभव, ५/६४।
३४. काठकोपनिषत्, १/२७।
३५. मरणसमाधि, ६०३।
३६. स्वप्नवासवदत्तम् ६/१०।
३७. सौन्दरनन्द, १५/६२।
३८. पद्मपुराण, ५/२३७।
३९. किरातार्जुनीय, १/३७।
४०. रघुवंश, ६/३०।
४१. हर्ष रत्नावली, ३/२।
४२. मृच्छकटिक, ५/८।
४३. धम्मपद, ३/१
४४. मनुस्मृति, २/११०।
४५. कादम्बरी, पृ. ४२६।
४६. कोसियजातक, २२६।
४७. चाणक्यसूत्राणि, १०९।
४८. हर्षचरित, १ पृ. १२, पं. १५।
४९. किरातार्जुनीय, १०/६२।
५०. अथर्ववेद, १२/१/२३।
५१. 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' यजुर्वेद, १९/३०।
५२. अश्रुवीणा, ४।
५३. अथर्ववेद, २२/६/८।
५४. मुण्डकोपनिषद् २/२/४।
५५. थेरगाथा ५०८।
५६. सुत्तनिपात, ५३/११
५७. थेरगाथा, ४५१
५८. अथर्ववेद, ८/२४ का/८।
५९. मनुस्मृति, ४/१३८।
६०. योगशास्त्र, २/५८।
६१. श्रीमद्भागवत, ८/२०/४।
६२. किरातार्जुनीय, २/४३।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ. २१।
६४. सुत्तनिपात, १ /१०/२।
६५. थेरगाथा, ५५४।
६६. महाभारत, वनपर्व–२/२८।
६७. सुत्तनिपात १/३/२७।
६८. भारतीय-दर्शन परिभाषा कोष, पृ. ४२।
६९. काठकोपनिषत्, १/२/१९।
७०. भगवद्गीता, २/२०।
७१. रघुवंश, ८/८५।
७२. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध पृ. ४११।
७३. सुत्तनिपात, ३/३६/१०।
७४. बृहद्‌ारण्यकोपनिषद्, ४/४/५।
७५. महाभारत शांति पर्व, २४०/१४।
७६. धम्मपद, १२/४।
७७. धम्मपद, २६/११।
७८. पंचरात्र, २/३३।
७९. इतिवुत्तक, ३/३९।
८०. हिन्दी मुहावराकोश, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. ५।
८१. उत्तर. १२/२६।
८२. उत्तर. १२/२६।
८३. उत्तर. १९/३६।
८४. उत्तर. १९/३७।
८५. उत्तर. १९/३७।
८६. उत्तर. १९/३८।
८७. उत्तर.१९/३८।
८८. उत्तर. १९/३९।
८९. उत्तर. १९/४०।
९०. उत्तर. १९/४१।

◆◆◆

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. उत्तराध्ययन में वक्रोक्ति

वक्र और उक्ति दो शब्दों के योग से वक्रोक्ति शब्द बना है। वक्र का अर्थ है कुटिल, टेढ़ा, अन्यथासिद्ध आदि। उक्ति शब्द वचन, कथन आदि का वाचक है। वैसी उक्ति वक्रोक्ति है, जो व्यंग्यात्मक हो, असामान्य हो, चामत्कारिक हो। शब्द और अर्थ का विशिष्ट विन्यास वक्रोक्ति है। साहित्य में वक्र भाषा का प्रयोग उसकी उत्कृष्टता का सूचक है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त भारतीय आलोचना का नित्य मौलिक और अत्यन्त प्रौढ़ काव्य सिद्धान्त है। प्राचीनकाल से ही इसका प्रचलन है, किन्तु व्यवस्थित आलोचना सिद्धान्त के रूप में इसके प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक है। उन्होंने इसे काव्य सिद्धान्त के व्यापक रूप में प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक है–यह सर्वमान्य है, पर उसका रूप पूर्ववर्ती ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने वक्र शब्द का प्रयोग टेढ़ा अर्थ में किया है–वक्रः पंथा यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराषाम्।[1] बाणभट्ट ने छल (वाक्छल), क्रीडालाप, परिहास आदि अर्थो में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया है –

वक्रोक्ति निपुणेन-विलासजनेन, वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण।[2]

आलंकारिक आचार्यों में सर्वप्रथम भामह ने वक्रोक्ति का प्रयोग किया तथा उसे समस्त अलंकारों की चारूता का हेतु बताया। दंडी वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार के साथ अन्यान्य अलंकारों का आधार भी मानते हैं।

वामन की दृष्टि में वक्रोक्ति एक अर्थालंकार है–'**सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः**' सादृश्य को लेकर चलने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है।

रुद्रट और आनंदवर्धन ने भी इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त का परिष्कार कर इसे एक उत्कृष्ट आलोचना सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि में वक्रोक्ति

भारतीय काव्याचार्यों ने तीन अर्थों में वक्रोक्ति का प्रयोग किया–

१. सामान्य चमत्कार या अतिशयोक्ति के रूप में।

इस अर्थ में वक्रोक्ति का प्रथम प्रयोग आचार्य भामह ने किया। उनके अनुसार-

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थोविभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविनां कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।[३]

यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है....। कौन सा सौन्दर्य है जो इसके बिना हो। भामह वक्रोक्ति को काव्य का आधारभूत तत्त्व मानते हैं।

२. आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का प्रयोग काव्य सर्वस्व या काव्यसिद्धान्त-विशेष के अर्थ में किया। वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना कर इसे काव्य का प्राण माना। वक्रोक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा–

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी–वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तथा भणितिः विचित्रैवाभि-धावक्रोक्तिरित्युच्यते।[४]

इस उक्ति से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं–

- वक्रोक्ति सामान्य उक्ति के अतिरिक्त विचित्र कथन या उक्ति है।
- वह शास्त्रादि में प्रयुक्त शब्दार्थ के सामान्य प्रयोग से सर्वथा भिन्न है।
- वक्रोक्ति निपुण कवि के काव्य-कौशल की शोभा है।
- कवि-कौशल जन्य चारूता ही वक्रोक्ति है।

३. वक्रोक्ति का तीसरा प्रयोग अलंकार-अर्थ में किया जाता है। अतः यह कहीं शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में मान्य है।

निष्कर्षतः वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है और ऐसी उक्ति काव्य की आत्मा है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्रोक्ति के भेद प्रभेद

शब्द को व्यंजक बनानेवाला तत्त्व उक्ति की वक्रता या प्रयोग वैचित्र्य है। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री कुन्तक ने वक्रोक्ति के मुख्य छः भेद व उनके अनेक प्रभेद किए हैं[५]–

१. **वर्णविन्यासवक्रता**

२. **पदपूर्वार्धवक्रता-**

१. रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता, २.पर्यायवक्रता, ३. उपचारवक्रता, ४. विशेषणवक्रता, ५. संवृत्तिवक्रता, ६. वृत्तिवक्रता, ७. लिंग वैचित्र्यवक्रता, ८. क्रिया वैचित्र्यवक्रता

३. **पद-परार्धवक्रता-**

१.काल वैचित्र्यवक्रता, २.कारकवक्रता, ३. वचनवक्रता, ४. पुरुषवक्रता, ५. उपसर्गविक्रता, ६. प्रत्ययवक्रता, ७. उपसर्गविक्रता, ८. निपातवक्रता

४. **वाक्यवक्रता**

५. **प्रकरणवक्रता**-१. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, २.प्रसंग की मौलिकता, ३. पूर्वप्रचलित प्रसंग में संशोधन, ४. रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन, ५.प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए अप्रधान प्रसंग की उद्भावना, ६. प्रसंगों का पूर्वापर क्रम से अन्वय आदि

६. **प्रबन्धवक्रता** - १. मूलरस परिवर्तनवक्रता, २. समापनवक्रता, ३. कथाविच्छेदवक्रता, ४. आनुषंगिकफलवक्रता, ५. नामकरणवक्रता, ६. तुल्यकथावक्रता

वर्ण-विन्यास-वक्रता

जिससे श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि हो, रस का उत्कर्ष हो, वस्तु की प्रभविष्णुता, कोमलता, कठोरता, कर्कशता आदि की व्यंजना हो, शब्द और अर्थ में सामंजस्य स्थापित हो, भावविशेष पर जोर पड़े तथा अर्थ का विशदीकरण हो ऐसे वर्णों का प्रयोग वर्ण-विन्यास-वक्रता कहलाता है।[६]

वक्रोक्तिजीवितम् में इसका लक्षण बताया है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एको द्वौ बहवो बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरिस्त्रधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता॥[७]

जहां एक, दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार ग्रथित होते हैं वहां वर्णविन्यास वक्रता-वर्ण-रचना की वक्रता होती है। इसके अन्तर्गत अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों का समावेश होता है।

उत्तराध्ययन में वर्ण विन्यास वक्रता

कडं कडे त्ति भासेज्जा अकडं नो कडे त्ति या॥ उत्तर. १/११

सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुछिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी॥ उत्तर. १/३६

आसिमो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा॥
अन्नमन्नमणूरत्ता अन्नमन्नहिएसिणो॥ उत्तर. १३/५

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
उत्तर. ६/१७

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई। उत्तर. ८/१७

यहां 'कडं', 'सु', 'अणुत्तर', 'ह', 'अन्नमन्न' आदि शब्दों की अनेकशः आवृत्ति हुई है।

'मासे मासे' उत्तर. ९/४४

'आलवंते लवंते वा' (१/२१) में वर्णों की स्वरूप एवं क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है।

सोच्चा, नच्चा, जिच्चा (उत्तर. २/१) तथा 'अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिंतणं चेव अकित्तणं च' (उत्तर ३२/१५) यहां पद के अंत में वर्णों की आवृत्ति से सौन्दर्य का आधान हुआ है।

इस प्रकार समय पर समय का अंकन करने के लिए 'काले कालं समायरे'। उत्तर. १/३१

जीवन की अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए क्षण-क्षण का मूल्य अभिव्यक्त करने 'समयं गोयम मा पमायए'। १०/१

प्राप्त-अप्राप्त में हर्ष-विषाद रहित साधुत्व को लक्षित करने

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सेसावसेसं लभउ तवस्सी' १२/१० आदि में वर्णों की एक बार या अनेकशः आवृत्ति होने से वर्णविन्यास-वक्रता में श्रुतिसुखद चमत्कार द्रष्टव्य हैं। इसका विस्तृत वर्णन अनुप्रास-अलंकार में ध्यातव्य है।

पद-पूर्वार्ध-वक्रता

अनेक वर्णों के समुदाय को पद कहते हैं। पद के दो अंग हैं—प्रकृति तथा प्रत्यय। मूल धातु (प्रकृति) से सम्बन्धित वक्रता को ही पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता कहते हैं। इसके आठ भेद हैं।

रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता

पर्यायवाची शब्दों का आधारभूत मूल शब्द रूढ़ि कहलाता है। रूढ़ि शब्द का एक ऐसा प्रयोग कि वह वाच्यार्थ का बोध न कराकर प्रकरण के अनुरूप अन्य अर्थ व्यंजित करे अथवा उससे वाच्यार्थ के किसी धर्म का अतिशय प्रकट हो, रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता कहलाता है। इसका प्रयोजन है लोकोत्तर तिरस्कार या लोकोत्तर श्लाघ्यता के अतिशय का प्रकाशन।

यत्र रूढ़ेसंभाव्यधर्मध्यारोपगर्थता।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते।।
लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढ़िवैचित्र्यवक्रता।[८]

उत्तराध्ययन की कुछ गाथाएं इसका प्रमाण हैं

पुट्ठो य दंसमसएहिं समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा सूरो अभिहणे परं।। उत्तर. २/१०

डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे, क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे- युद्ध के अग्रभाग में रहा शूर हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता हैं

'नगे भवः नागः।' नग +तद्धितीय अण् प्रत्यय जुड़कर निष्पन्न नाग शब्द का मूल अर्थ है पर्वत पर उत्पन्न होने वाला। किन्तु यहां सर्वत्र समभाव, स्थिरता और धैर्यशीलता से युक्त अर्थ में नागशब्द का प्रयोग हुआ है।

नाग के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए कवि ने रूढ़ या परम्परागत अर्थ पर दूसरे असंभाव्य अर्थ का अध्यारोप किया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समणो अहं संजओ बंभयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमाअगो मि॥

उत्तर. १२/९

प्रसंग उस समय का है जब यज्ञ हो रहा था वहां हरिकेशी मुनि भिक्षार्थ गये। ब्राह्मणों ने उनको दुत्कारा। शांत भाव से मुनि ने कहा–'मैं श्रमण हूं।' यहां श्रमण के ही पर्यायवाची भिक्षु, तपस्वी, संन्यासी, साधु शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता था, 'समण' का ही क्यों?

इस संदर्भ में समण शब्द की मीमांसा चिन्तनीय है। समण शब्द के तीन रूप मिलते हैं – १. श्रमण, २. समण, ३. शमन

श्रमण

श्रमु तपसि खेदे च[९] धातु से श्रमण शब्द निष्पन्न होता है। 'श्राम्यतीति श्रमणः' जो तपस्या करता है, श्रम करता है उसे श्रमण कहते हैं।

'श्राम्यतीति तपस्यतीति श्रमणः'[१०] आत्मा के सहजगुण की प्राप्ति के लिए जो तपस्या करता है, व्रत धारण करता है, शरीर एवं रागादि को क्षीण करता है वह श्रमण है।

शमन

शमु उपशमे[११] धातु से णिच् + ल्युट् प्रत्य करने पर शमन शब्द बनता है। जिसका अर्थ है शमन करने वाला, दमन करने वाला, वशीभूत करने वाला।

समण

सम्यक् मणे समणे[१२] जिसका मन सम्यक् है वह समण है। समिति-समतया शत्रुमित्रादिष्वणन्ति प्रवर्तन्त इति समणाः।[१३] सूत्रकृतांग हिन्दी टीका में समण को परिभाषित करते हुए कहा है–जो शत्रु एवं मित्र में समान रूप से प्रवृत्ति करता है, समान व्यवहार रखता है, समता भाव को धारण करता है वह समण है।[१४] उत्तराध्ययन में कहा गया 'समयाए समणो होइ' (उत्तर. २५/३२) समत्व का धारक ही समण है।

तात्पर्य 'समण' वही होता है जिसका मन सम्यक् है, जो लाभ-अलाभ, दुत्कार-सत्कार में सम रह सकता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'समणो अहं' कहकर मुनि इसी बात को ध्वनित करना चाहते हैं कि साधु को दुत्कार-सत्कार सब मिल सकता है और मैं समण हूं इसीलिए ही ये सब सहन कर रहा हूं। यहां मुनि ने समण शब्द का प्रयोग कर पश्चिम की अभिव्यजना पूर्व में की है तथा वाच्यार्थ के सहन करने के धर्म का अतिशय द्योतित हो रहा है।

पर्याय वक्रता

एक ही धर्म के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्दों में से रचनाकार किसी एक को चुन कर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है उसे पर्याय-वक्रता कहते हैं। यह शब्द शक्तिमूलक अनुकरणरूप पद-ध्वनि का आधार है।[१५]

उत्तराध्ययन की निम्न गाथाओं में पर्याय-वक्रता द्रष्टव्य है –

आणानिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई। उत्तर. १/२

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह विनीत कहलाता है।

यहां विनीत कौन? के प्रसंग में विनीत के पर्यायवाची निभृत, प्रश्रित[१६] में से विनीत शब्द अधिक औचित्यपूर्ण है। वि उपसर्गपूर्वक नीञ् प्रापणे धातु से क्त प्रत्यय लगकर निष्पन्न विनीत शब्द नम्र होना, विनय करना, आचरणशील, शासन किये जाने के योग्य आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

उद्दंडता जिससे कोशों दूर चली गई है, शासन करने के लिए सूत्र-अर्थ की वाचना देने के लिए गुरु जिसे पात्र समझता है, जिसका मन गुरु चरणों में पूर्णतया समर्पित है, मोक्षमार्ग की ओर कृत निश्चय है–इन अर्थों का प्रकटीकरण विनीत शब्द से संभव है, सुशील आदि से नहीं।

विनय के दो अर्थ हैं–आचार और नम्रता। इन दोनों अर्थों की समन्विति के लिए भी विनीत शब्द का सार्थक प्रयोग हुआ है।

इस गाथा से शिष्य की वीरता, मोक्ष साधकता एवं अहंकार-शून्यता प्रतिध्वनित हो रही है। क्लीव कभी आज्ञा का पालन नहीं करता। जो अपना

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहं विसर्जन कर चुका है वही गुरु की आराधना कर सकता है। राग-द्वेष, अभिमान के अभाव में ही विनय घटित होता है।

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।। उत्तर. १/१५

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

जीव, पुद्गल, भूत, सत्त्व, प्राणी आदि आत्मा के अनेक पर्यायवाची शब्दों में यहां आत्मा शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। आत्मा शब्द आप्लृ व्याप्तौ, आ उपसर्गपूर्वक दाञ् दाने, अन प्राणने, अत सातत्यगमने आदि धातुओं से निष्पन्न है। टीकाकार ने लिखा है–'अतति संततं गच्छति शुद्धिसंक्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा'[१७] जो विविध भाव में परिणत होता है वह आत्मा है। समयसार के टीकाकार ने कहा–'दर्शनज्ञानचारित्राणि अतति इति आत्मा'–'दर्शन, ज्ञान, चारित्र को सदा प्राप्त हो, वह आत्मा है।

प्रस्तुत प्रसंग 'आत्मा का ही दमन करना चाहिए' में आत्मा शब्द भंगिभणिति से युक्त है। यहां दमन या शमन का अर्थ आत्म व्यतिरिक्त पदार्थों रागादि से आत्मा को अलग करना काम्य है। रागादि पदार्थों में आत्मा परिणत होती है, इसलिए दमन आत्मा का ही होगा जीवादि का नहीं क्योंकि 'परिणतिविशेष' का वाचक आत्मा शब्द ही है जीवादि नहीं।

'साहू कल्लाण मन्नई' उत्तर. १/३९–गुरु के अनुशासन को विनीत शिष्य कल्याणकारी मानता है।

यहां कवि ने विनीत शिष्य के लिए 'साहू' पर्याय का प्रयोग किया है। साधु शब्द 'साध-संसिद्धौ' धातु से निष्पन्न है। जो निर्वाण, शान्ति, संयम, रत्नत्रयी आदि की साधना करता है वह साधु होता है। 'णिव्वाणसाहणेण साधवः'[१८] जो निर्वाण की साधना करते हैं वे साधु हैं। विनीत शिष्य की मोक्षसाधना में अनुरक्तता की अभिव्यंजना के लिए 'साहू' पर्याय का प्रयोग किया गया है।

जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए।। उत्तर. ६/१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितने अविद्यावान पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिङ्मूढ की भांति मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।

हित-अहित के विवेक की विकलता को बताने के लिए यहां अज्ञ, वैधेय, बालिश आदि की अपेक्षा 'मूढ़' शब्द अधिक औचित्यपूर्ण है। 'मुह वैचित्ये'[१९] धातु से क्त प्रत्यय करने पर मूढ़ शब्द निर्मित होता है। आप्टे ने इसके मोहित, उद्विग्न, व्याकुल, सूझबूझ से हीन, मन्दबुद्धि, जड़ आदि अर्थ किए हैं।[२०] बृहद्वृत्ति में कहा गया—'मूढा हिताहिताविवेचनं प्रत्ययसमर्थाः' हित-अहित के विवेक से जो विकल है वह मूढ़ है।[२१]

प्रस्तुत प्रसंग में मूढ़ शब्द व्यक्ति की विवेक शून्यता को प्रकट कर रहा है।

जगत आदि शब्दों के स्थान पर 'संसारंमि' शब्द का प्रयोग भी प्रसंगानुकूल है। 'संसरतीति संसारः' जो संसरण करे वह संसार है। 'संसरणम् इतश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः'[२२] जिसमें जीव या प्राणी भ्रमण करता है वह संसार है। यहां लुप्यंति क्रिया द्वारा परिभ्रमण गम्य है। उसके अनुकूल संसार शब्द का प्रयोग विच्छिति-वैचित्र्य का सूचक है।

कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए पव्वयंतंमि।
तइया राइरिसिंमि नमिंमि अभिणिक्खमंतंमि॥ उत्तर. ९/५

जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहे थे, प्रव्रजित हो रहे थे उस समय मिथिला में सर्वत्र कोलाहल जैसा होने लगा।

यहां कोलाहल शब्द का मार्मिक और रोमांचकारी प्रयोग हुआ है। कोलाहल शब्द 'कुल संस्त्याने' तथा 'हल विलेखने'[२३] इन दो धातुओं के मेल से बना है। 'कोलनम् कोलः एकीभावः तमाहलति' अर्थात् जो एकीभव, मन की शांति को खण्डित कर दे वह कोलाहल है। मन अशांत होता है, तब कोलाहल उत्पन्न होता है और वह दूसरों को भी अशांत कर देता है। राजर्षि को प्रव्रजित होते देख पूरी मिथिला नगरी, रनिवास, सब परिजन—'अब हमारी रक्षा कौन करेगा?' इस चिंता से आक्रन्दन करने लगे, उससे सर्वत्र कोलाहल हो गया। कोलाहल शब्द से यहां मन की अशांति अभिव्यंजित है, जो कोलाहल के पर्यायवाची कलकल आदि शब्दों से संभव नहीं।

राजर्षि शब्द भी यहां पर्याय-वक्रता का उत्कृष्ट उदाहरण बन रहा है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'राजृ दीप्तौ'[२४] तथा 'ऋषि गतौ'[२५] धातु से राजर्षि शब्द बना है जो ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि के द्वारा प्रजाजनों को दीप्त करता है, सभी पदार्थों को जो जान लेता है वह राजर्षि है। राजर्षि शब्द से आत्मिक विभूति की गूंज प्रतिध्वनित है।

कोष में[२६] राजर्षि का अर्थ राजकीय ऋषि, सन्त समान राजा, क्षत्रिय जाति का पुरुष जिसने अपने पवित्र जीवन तथा साधनामय भक्ति से ऋषि का पद प्राप्त किया हो, किया गया है।

नमि राजा की अवस्था में भी ऋषि की तरह जीवन-यापन करते थे। उन्होंने अपनी प्रखर साधना से ऋषि पद प्राप्त किया।

'राजाचासौ राज्यावस्थामाश्रित्य' ऋषिश्च तत्कालपेक्षया राजर्षिः यदि वा राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः—क्रोधादिषड्वर्गजयात्[२७] जो व्यक्ति क्रोधादि षड्वर्ग को छोड़ता है वह राजर्षि कहलाता है।

इन्द्र और नमि के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि नमि ने क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी तभी देवेन्द्र को नमि की स्तुति करते हुए कहना पड़ा—'अहो! ते निज्जिओ कोहो.....।' इसीलिए यहां नृप, भूपाल आदि शब्दों की अपेक्षा राजर्षि शब्द का प्रयोग विद्वद्जनों द्वारा समादरणीय है।

उपचार-वक्रता

काव्यभाषा का प्रमुख लक्षण लाक्षणिकता है। वह उपचार-वक्रता से आती है। उपचार शब्द का अर्थ है— विभिन्न पदार्थों में सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता या एकता, जैसे 'मुख रूपी चन्द्र !' जहां भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता को उपचार-वक्रता कहते हैं।[२८] अन्य के धर्म का अन्य पर आरोप उपचार-वक्रता है। अमूर्त्त पर मूर्त्त का आरोप, मूर्त्त पर अमूर्त्त का आरोप, मानव के साथ मानवेतर धर्म का आरोप, रूपक आदि अलंकार भी इसी के अंतर्गत आते हैं। आधुनिक शैलीविज्ञान में इन असामान्य प्रयोगों को विचलन कहते हैं। कुन्तक ने इसे उपचार-वक्रता कहा है —

यत्र दूरांतरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनपि भवत् कांच्विद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।।
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते।।[२९]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक आलोचकों ने महावीर की अंतिम देशना के आधारभूत ग्रन्थ उत्तराध्ययन को 'श्रमण काव्य' से अभिहित किया है।[30] इसमें जैन-तत्त्वविद्या, दर्शन, साधना- पद्धति आदि के प्रतिपादन में ग्रन्थकर्त्ता ने यत्र-तत्र उपचार-वक्रता का प्रभूत प्रयोग किया है तथा उसके द्वारा भाव अनुभूतिगम्य और अभिव्यक्ति में रमणीयता का आधान हुआ है। यथा –

अमूर्त्त के साथ मूर्त्त धर्म का प्रयोग

विणए ठवेज्ज अप्पाणं इच्छन्तो हियमप्पणो॥ उत्तर. १/६

अपनी आत्मा का हित चाहने वाला, अपने आपको विनय में स्थापित करे। स्थापित करने की क्रिया मूर्त्त पदार्थ में ही संभव हो सकती है। 'ष्ठां गतिनिवृतौ' धातु से ठवेज्ज रूप निष्पन्न है। जिसका अर्थ है–ठहरना, निश्चेष्ट होना, प्रतिबद्ध होना। अमूर्त्त विनय में आत्मा की संस्थापना कैसे हो सकती है? मूर्त्त-धर्म का अमूर्त्त पर आरोप कर कवि-प्रतिभा विनय की उत्कृष्टता प्रकट कर रही है। यहां विनय को सर्वात्मना धारण करना, एकमेक हो जाना अभिव्यंजित है।

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो॥ उत्तर. १/१५

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है।

दमन-क्रिया संसार में शत्रु-दमन, दुष्ट हाथी का दमन आदि मूर्त्त पदार्थों के लिए प्रसिद्ध है किन्तु यहां अमूर्त्त आत्मा के लिए दमन क्रिया का प्रयोग किया गया है जो अध्यात्म के क्षेत्र में आत्म-साधना के महत्त्व को उजागर करता है। दमन शब्द 'दमु-उपशमे' धातु से व्युत्पन्न है। यहां दमन छेदन-भेदन के अर्थ का धारक न होकर शान्त करना, स्वाधीन करना अर्थ का अभिव्यंजक है। यहां राग-द्वेषादि जो आत्मेतर पदार्थ हैं, उनसे आत्मा को अलग कर स्व-स्वरूप में परमविश्रान्ति की घटना काम्य है।

कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।

एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए॥ उत्तर. १/५

जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चावलों की भूसी एवं विष्ठा के धर्म का शील और दुःशील पर आरोप किया गया है। यह आरोप दुःशील शिष्य की अज्ञानता, तत्त्वग्रहण-असमर्थता एवं चरित्र हीनता की प्रतीति करा रहा है।

एगप्पा अजिए सत्तु कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी।। उत्तर. २३/३८

एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है, कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। मुने! मैं उन्हें जीतकर नीति के अनुसार विहार कर रहा हूं।

जीतना शत्रु-मूर्त्त पदार्थ का धर्म है, उसका उपचार आत्मा पर करके आत्मविजय के संगान को बुलन्द किया है। यहां जो निजस्वरूप है, उससे व्यतिरिक्त पदार्थ शत्रु हैं। जो स्वरूपरमण (सुख) में बाधक हो वह शत्रु है, जो आतंकित करे, वह शत्रु है। उपर्युक्त वस्तु, कषायादि शत्रु हैं। उनको शांत करना, आत्मा से अलग करना, आत्मा से निकाल फेंकना आदि तथ्य गम्य है।

इहमेगे उ मन्नंति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चई।। उत्तर. ६/८

इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किये बिना ही तत्त्व को जानने मात्र से जीव सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

'मुच्लृमोचने' धातु से निष्पन्न विमुच्चई का अर्थ है मुक्त होना, छोड़ना। छोड़ना और मुक्त होने से क्रिया मूर्त्त द्रव्य से संबंध रखती है। दुःख भावद्रव्य है। यहां मूर्त्त का अमूर्त्त पर आरोप रूप उपचार-क्रिया का प्रयोग हुआ है। साथ ही दुःखों का आत्मा से भेद हो जाना आदि तथ्य अभिव्यंजित हैं।

कामभोगों की नश्वरता क्षणभंगुरता को दिखाने के लिए मूर्त्त के धर्म का अमूर्त्त काम पर प्रयोग किया गया है –

'कुसग्गमेत्ता इमे कामा' उत्तर. ७/२४

ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने क्षणिक हैं।

'कामा आसीविसोवमा' उत्तर. ९/५३

कामभोग आशीविष सर्प के तुल्य हैं। भोगों की भयंकरता प्रकट करने के लिए यहां मूर्त्त आशीविष सर्प के धर्म का अमूर्त्त काम पर आरोप किया गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता! होइ दुव्वहो।। उत्तर. १९/३५

पुत्र! श्रामण्य में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान भार है। भारी भरकम लोहभार की भांति इसे उठाना बहुत ही कठिन है।

यहां मूर्त्त पदार्थ लोहे के धर्म का अमूर्त्त संयम जीवन पर आरोपण श्रामण्य जीवन की कठोरता का अभिव्यंजन करने में समर्थ हुआ है।

उपशम की कठिनता का उद्घाटन कर उस पर रत्नाकर के धर्म का आरोप किया गया है –

जहा भूयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसंतेण, दुक्करं दमसागरो।। उत्तर. १९/४२

जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है। उत्कृष्ट एवं उपयुक्त साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है–यह सात्विक सत्य बोध्य है।

मूर्त्त के साथ मूर्त्त के धर्म का प्रयोग
जहा से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए।। उत्तर. ११/३०

जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

यहां सागर के धर्म का बहुश्रुत पर आरोप उसकी अनन्त/विशाल ज्ञान की विशिष्टता को उजागर कर रहा है।

केशी कुमारसमणे गोयमे व महायसे।
उभओ निसण्णा सोहंति चंदसूरसमप्पभा।। उत्तर. २३/१८

चन्द्र और सूर्य के समान शोभा वाले कुमार-श्रमण केशी और महान यशस्वी गौतम दोनों बैठे हुए शोभित हो रहे थे।

यहां पर चन्द्रमा और सूर्य दो आकाशीय पदार्थों के धर्म का मुनिद्वय पर आरोप किया गया है। इस वक्रता से मुनिद्वय की शारीरिक दीप्ति के साथ-साथ आत्मिक सौन्दर्य भी द्योतित हो रहा है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतन पर अचेतन के धर्म का प्रयोग

इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया .....उत्तर. २/१

निर्ग्रन्थ-प्रवचन में बाईस परीषह होते हैं, जो कश्यप-गोत्रीय भगवान महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता।

निर्जीव पदार्थ पर कोई, कितना ही प्रहार करे, छेदन-भेदन करे फिर भी वह अविचल, स्थिर रहता है। चेतन पदार्थ में विचलन, अस्थिरता सहज है। मुनि परीषह उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होता—यहां अचेतन के धर्म का चेतन पर आरोप कर कवि उसकी कष्ट-सहिष्णुता, धैर्यधर्मिता को प्रकट कर रहा है। विभावना और विशेषोक्ति अलंकार का यहां सुन्दर प्रयोग हुआ है।

'पंकभूया उ इत्थिओ' उत्तर. २/१७

स्त्रियां ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं।

जैसे दल-दल में फंसा जीव अपने लक्ष्य से भटक जाता है वैसे ही स्त्री-रूप दल-दल में फंसा ब्रह्मचारी अपने व्रत की सुरक्षा नहीं कर पाने के कारण कभी त्राण नहीं पा सकता—इस तथ्य की अभिव्यंजना करने के लिए यहां 'दल-दल' अचेतन के धर्म का चेतन स्त्री पर आरोप किया गया है। स्त्री से तात्पर्य यहां आसक्ति से है।

'विज्जुसोयामणिप्पभा' २२/७

वह राजकन्या चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

राजीमती का शारीरिक सौन्दर्य अनुपम था—इस बात को प्रकट करने के लिए यहां चमकती बिजली को उपमान बनाकर अचेतन के धर्म का चेतन पर आरोप किया गया है।

आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणि जहा॥ उत्तर. २२/१०

हाथी पर आरूढ़ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की भांति बहुत सुशोभित हुआ।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिष्टनेमि की श्रेष्ठता, सुन्दरता का उद्घाटन करने के लिए धर्म-विपर्यय मूलक 'सिरे चूडामणि जहा' वाक्य का प्रयोग किया गया है।

अचेतन पर चेतन के धर्म का प्रयोग

गामाणुगामं रीयंतं अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे तं तितिक्खे परीसहं।। उत्तर. २/१४

एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाय तो उस परीषह को वह सहन करे।

'अरति उत्पन्न हो जाय' यहां उत्पन्न होना चेतन कर्त्ता का धर्म है, जो अचेतन 'अरई' पर आरोपित है। जिससे संयमी जीवन में आए हुए परीषहों को समभाव से सहन करने की बात अभिगम्य है। यहां जड़ पर चेतन का आरोप कर कवि ने चमत्कार उत्पन्न किया है।

मानव के साथ तिर्यंच के धर्म का प्रयोग

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जइ।। उत्तर. १/४

जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है।

जुगुप्सा भाव की अभिव्यंजना के लिए यहां दुःशील शिष्य के साथ पूतिकर्णी कुतिया के धर्म का आरोप किया गया है। पशु धर्म का मनुष्य पर आरोप हुआ है।

अंतरंग शत्रुओं (क्रोधादि) के दमन के लिए शूर हाथी के धर्म का मुनि पर आरोप उसकी आत्मिक शक्ति के सौन्दर्य की अनुपमेयता को व्यंजित कर रहा है –

'नागो संगामसीसे वा सूरो अभिहणे परं'। उत्तर. २/१०

मुनि क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में शूर हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।

जहा य भोई! तणुयं भुयंगो निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहंति भोए ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को।।

उत्तर. १४/३४

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे भवति! जैसे सांप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यों रहूं, उनका अनुगमन क्यों न करूं?

यहां सर्प के धर्म का भृगुपुत्र पर तथा केंचुली के धर्म का भोगों पर आरोप किया गया है। सर्प केंचुली छोड़ने के बाद पुनः उस ओर दृष्टिपात नहीं करता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ फिर उसकी ओर नहीं देखते।

भृगुपुत्रों पर सर्प का आरोपण पुत्रों की भोगों के प्रति अनासक्तता, निःस्पृहता को प्रकट कर रहा है।

विशेषण वक्रता

जहां विशेषण के माहात्म्य से वस्तु या क्रिया की अवस्था-विशेष का बोध हो जिससे उसकी अन्तर्निहित सुन्दरता, कोमलता या प्रखरता प्रकट होकर वह रस या भाव का पोषक बन जाए, वहां विशेषण-वक्रता होती है–

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लस्यति लावण्यं सा विशेषण-वक्रता॥[३१]

वि पूर्वक शिष् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निर्मित विशेषण शब्द किसी विशेष्य की विशेषता प्रकट करता है।

उत्तराध्ययन में विशेषण-वक्रताजन्य चमत्कार –

नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवइ किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा॥ उत्तर. १/४५

मेधावी मुनि विनय-पद्धति को मानकर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है।

यहां विनीत के लिए विशेषणात्मक संज्ञा 'मेहावी' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो मेधा को धारण करे वह मेधावी है। मेधृ संगमे धातु से मेधा शब्द निष्पन्न है। 'मेधते संगच्छते सर्वमस्याम्' जिसमें सब कुछ संगमित हो जाए उसे मेधा कहते हैं। अमरकोषकार ने लिखा है–'धीर्धारणवती मेधा'[३२] धारणशक्ति का नाम है धी और जो धी को धारण करे वह मेधा है। मेधा संपन्न व्यक्ति मेधावी होता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मेरा धावित्ता मेहाविणो'[३३] जो मर्यादापूर्वक चलते हैं वे मेधावी हैं। संसार में यश उसी का फैलता है, सर्वपूज्य वही होता है जो सद्गुणों को धारण करने में समर्थ हो। विनय, मर्यादा तथा गुरु के अनुशासन में समर्पित हों। यहां सद्गुणों को धारण करना, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से संपन्न होना, अनुशासन प्रिय होना, मर्यादा में चलना इन अर्थों की अभिव्यंजना में मेधावी शब्द समर्थ है।

अधुवे असासयंमि, संसारंम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा॥ उत्तर. ८/१

अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल संसार में ऐसा कौन सा कर्म/अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊं?

प्रस्तुत गाथा में संसार के अधुवे, असासयंमि, दुक्खपउराए—इन तीन विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग हुआ है। इन विशेषणों से चलचित्र की भांति संसार का दृश्य आंखों के सामने आ जाता है।

'अधुवे' विशेषण से संसार की अनिश्चितता एवं चंचलता का प्रतिपादन हो रहा है।

राज्य, धन, धान्य, परिवार आदि की क्षणिकता तथा दृश्यमान जगत की क्षणभंगुरता 'असासयंमि' विशेषण से प्रकट हो रही है।

'दुक्खपउराए' विशेषण दुःख स्वरूप संसार की प्रतीति कराने में समर्थ है। संसार के ये विशेषण वैराग्य के हेतु बनकर संसार की व्यर्थता का निरूपण कर रहे हैं।

महाजसो एस महाणुभागो घोरव्वओ घोरपरक्कमो या उत्तर.१२/२३

यह महान यशस्वी है। महान अनुभाग (अचिन्त्य शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है।

यहां महाजसो, महाणुभागो, घोरव्वओ, घोरपरक्कमो—इन विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग हरिकेशी मुनि के लिए किया गया है।

महाजसो : 'तिहुयणविक्खायजसो महाजसो'[३४] जिसका यश त्रिभुवन में विख्यात है, वह 'महायशा' कहलाता है। 'अश्नुते व्यापनोति इति यशः'

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो सर्वत्र व्याप्त हो जाए वह यश है। हरिकेशी का यश सर्वत्र फैला हुआ था। अतः वे सर्व-पूज्य थे। महाजसो विशेषण से मुनि की गुणवत्ता, पूज्यता का उद्‌घाटन हो रहा है।

महाणुभागो : महानुभागः—'अतिशयाचिन्त्यशक्तिः।'[३५] जिसे महान अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो, उसे महाभाग-महाप्रभावशाली कहा जाता है। हरिकेशी अपने तप के प्रभाव से सब कुछ करने में समर्थ थे। सर्वनाश भी कर सकते थे। 'महाणुभागो' विशेषण से ऋषि की सर्व-सामर्थ्यता का चित्रण हो रहा है।

घोरव्वओ : 'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रतः।[३६] जो अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को धारण किए हुए हो उसे 'घोरव्रत' कहा जाता है। हरिकेशी मुनि का कठोर तप प्रशंसनीय था। उनके तापस जीवन की पराकाष्ठा एवं तापसिक विभूति का दर्शन इस विशेषण से हो रहा है।

घोरपरक्कमो : 'घोरपराक्रमश्च' कषायादिजयं प्रति रौद्रसामर्थ्यः।[३७] जिसमें कषाय आदि को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य हो, उसे 'घोर-पराक्रम' कहा जाता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में 'घोर-पराक्रम' की व्याख्या करते हुए बताया है – ज्वर, सन्निपात आदि महाभयंकर रोगों के होने पर भी जो अनशन काया-क्लेश आदि में मन्द नहीं होते और भयानक श्मशान, पहाड की गुफा आदि में रहने के अभ्यासी हैं वे 'घोरतपी' कहे जाते हैं। ये ही जब तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं तब 'घोर-पराक्रम' कहे जाते हैं।[३८]

'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि' की उक्ति को घोर-पराक्रम द्वारा चरितार्थ कर हर क्षण प्रसन्नता का संदेश देने का सामर्थ्य इस विशेषण से अभिव्यंजित है।

हरिकेशी मुनि के लिए प्रयुक्त इन विशेषणों के माहात्म्य से उनके अन्तर्निहित संयम की प्रखरता व्यक्तित्व की उदात्तता अभिव्यंजित है।

एस धम्मे धुवे निअए सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण सिज्झिस्संति तहापरे।। उत्तर. १६/१७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत के द्वारा उपदिष्ट है। इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे।

प्रस्तुत संदर्भ में धुवे, निअए, सासए शब्द विशेषण-वक्रता के उदाहरण हैं।

धुवे

धुवे शब्द विशिष्ट चामत्कारिक है। ध्रुव अर्थात् जो श्रमणों से प्रतिष्ठित और पर-प्रवादियों से अखंडित है। ब्रह्मचर्य-धर्म की उत्कृष्ट विशेषता इस विशेषण से द्योतित की गई है। 'ध्रुव' शब्द 'ध्रु गतिस्थैर्ययोः' धातु से अच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है गति और स्थिरता। गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक होती हैं। साधक ब्रह्मचर्य-धर्म की अनुपालना कर परम ज्ञान, परम स्थिरता जो कि मोक्ष के धर्म हैं, उसकी ओर अग्रसर है और उसे प्राप्त कर अपने ज्ञान-स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यहां 'धुवे' शब्द ज्ञान और स्थिरता का बिंबन कर रहा है।

निअए

यह ब्रह्मचर्य धर्म नित्य है। नियतं भवः नित्यः। 'नित्यं स्यात्सततेऽपि च शाश्वते त्रिषु।'[३९]

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर स्वभाव वाला है, जो त्रिकालवर्ती होता है, वह नित्य है।

ब्रह्मचर्य धर्म की त्रैकालिक महत्ता का प्रकटन 'निअए' विशेषण से हो रही है।

सासए

'शश्वद् भवः शाश्वतः।' शश्वत् शब्द से अण् प्रत्यय करने पर शाश्वत व्युत्पन्न होता है। अर्थात् जो निरंतर बना रहता है वह शाश्वत है।

'सासए' विशेषण यहां ब्रह्मचर्य धर्म की सनातनता एवं नित्यविद्यमानता को प्रकट कर रहा है।

कहं धीरे अहेऊहिं अत्ताणं परियावसे?
सव्वसंगविनिम्मुक्के सिद्धे हवइ नीरए।। उत्तर. १८/५३

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीर पुरुष एकान्त दृष्टिमय अहेतुकों में अपने आपको कैसे लगाए? जो सब संगों से मुक्त होता है वह कर्म रहित होकर सिद्ध हो होता है।

यहां 'धीर' विशेषण बुद्धि परिपूर्णता गुण की अभिव्यंजना कर रहा है। धी उपपद पूर्वक 'रा दाने' एवं 'ईर गतौ'[४०] धातु से धीर शब्द बनता है। 'धियं राति इति धीरः' जो बुद्धि देता है, बुद्धि से व्याप्त रहता है वह धीर है तथा 'धियमीरयति इति धीरः' जो धी में गमन करता है, वह धीर है।

आवश्यक चूर्णिकार ने कहा--'धीः बुद्धिस्तया राजन्त इति धीराः'[४१] जो बुद्धि से राजित होता है वह धीर है।

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'[४२] विकार का हेतु उपस्थित होने पर भी जिसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता वह धीर है।

निष्कर्षतः जो बुद्धिमान है, दूरदर्शी है, स्वस्थ चित्त है वह धीर है। राजा संजय के लिए प्रयुक्त धीर विशेषण उसकी चैतसिक-अविकार्यता अभिव्यंजित कर रहा है।

तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सूहोइयं। उत्तर. २०/४

वहां राजा ने संयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे हुए सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा।

यहां साधु के लिए प्रयुक्त 'संजयं' तथा 'सुकुमालं' विशेषण ध्यातव्य हैं।

संजयं

संयत कौन होता है? चूर्णिकार के अनुसार 'समं यतो संयतो'[४३] जो समग्ररूप से यत्नवान है वह संयत है। 'सम्यक् यतते सदनुष्ठानं प्रतीति संयतः'[४४] अर्थात् जो सद् अनुष्ठान के प्रति सम्यक् यत्न करता है, वह संयत है।

यहां साधु मोक्षमूलक अनुष्ठान के प्रति जागरूक है, यत्नशील है। इसलिए 'संजयं' विशेषण साध्वोचित है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुकुमालं

सुकुमार शब्द की उत्पत्ति सु उपसर्ग पूर्वक 'कुमार क्रीडायाम्'[४५] धातु से 'घ' प्रत्यय करने पर हुई है।

'सुकुमारं तु कोमलं मृदुलं मृदुः।'[४६] मुनि सुकुमार शरीरवाला-क्रीड़ा करने योग्य है। ऐसे मुनि को कठोर तप में संलग्न देख, राजा विस्मय से भर जाता है। यहां 'सुकुमालं' शब्द-प्रयोग से मुनि की शारीरिक अविकार्यता के साथ अनाविल रूप-सौन्दर्य का उद्‌घाटन हो रहा है। सुकुमार शब्द सम्यक् रूप से अविद्या-विनाश के अर्थ का प्रतिपादक भी है- 'सु सुष्ठु रूपेण कुं अविद्या मारयतीति सुकुमारः' जो अविद्या कर्ममल रागादि का सम्यक् रूप से विनाश कर चुका है वह सुकुमार है। इस विशेषण से मुनि की अविद्याविहीनता भी अभिव्यंजित है।

अह तेणेव कालेणं धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए॥ उत्तर. २३/५

उस समय भगवान वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रर्वतक, जिन और पूरे लोक में विश्रुत थे।

यहां वर्धमान के लिए प्रयुक्त विशेषण भगवं, धम्मतित्थयरे, जिणे, विस्सुए आदि विमर्शनीय है।

भगवं

भग को धारण करता है वह भगवान है। भग शब्द षडैश्वर्य से युक्त है-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीर्यते॥

भग शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर भगवान बनता है। 'भगं माहात्म्यमस्यास्तीति'[४७] जो माहात्म्य वाला हो वह भगवान है।

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है –

इस्सरियरूवसिरिजसधम्मतयत्ता मया भगाभिक्खा[४८] तात्पर्यार्थ– जो ऐश्वर्यवान है, ज्ञान, वैराग्य, शोभा आदि विभूतियों को धारण करता है वह भगवान है। वर्धमान इन गुणों से विभूषित है इसीलिए भगवान विशेषण पद औचित्यपूर्ण है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मतित्थयरे : महावीर साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने के कारण धर्मतीर्थ के प्रर्वतक कहलाये।

जिणे : 'जिं जये'[४९] धातु से नक् प्रत्यय करने पर जिन बनता है। राग-द्वेष को जो जीतता है वह जिन कहलाता है। वर्धमान ने आत्मा के साथ युद्ध कर आंतरिक शत्रुओं को परास्त किया अतः 'जिणे' विशेषण साभिप्राय है।

विस्सुए : तीनों लोकों में उनका यश व्याप्त था इसलिए विश्रुत कहलाये।

इस प्रकार ये विशेषण वर्धमान की और भी विशेषताओं को उजागर करने के कारण विशेषण-वक्रता से अन्वित है।

संवृति-वक्रता

संवृति का अर्थ है छिपाना। इसमें वस्तु के स्वरूपगोपन में ही वक्रता का समावेश होता है।

जहां वस्तु के उत्कर्ष, लोकोत्तरता या अनिर्वचनीयता की प्रतीति कराने के लिए अथवा लोकोत्तरता की प्रतीति को सीमित होने से बचाने के लिए सर्वनाम से आच्छादित कर उसका द्योतन किया जाता है, वहां संवृति-वक्रता होती है। आचार्य कुन्तक ने लिखा है-

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यविवक्षया।
सर्वनामदिभिः कश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता।।[५०]

जब सौन्दर्य या वैचित्र्य के प्रतिपादन के लिए सर्वनाम आदि के द्वारा पदार्थ का गोपन या संवरण किया जाता है, उसे संवृतिवक्रता कहते हैं। ध्वनिकार आचार्य आनंदवर्धन ने इसे सर्वनामव्यंजकत्व के रूप में निरूपित किया तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का आधार माना।

ततो हं <u>नाहो</u> जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य। उत्तर. २०/३५

तब मैं अपना और दूसरों का तथा सभी—त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया। जो स्वयं दुःख मुक्त है तथा दूसरों को भी दुःख से मुक्ति दिलाने में समर्थ है वह नाथ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो योग (अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति) क्षेम (प्राप्य वस्तु का संरक्षण) करने वाला होता है, वह नाथ कहलाता है।[५१]

दुःखों का दास, कषायों से अभिभूत व्यक्ति कभी किसी का नाथ नहीं बन सकता। यहां अनाथ से नाथ बनने की यात्रा, स्वामी बनने की कला 'हं' (अहं) सर्वनाम द्वारा संवृत है। इसीलिए अनाथी मुनि के स्वामी, सामर्थ्यवान, ऐश्वर्यवान बनने का द्योतक 'हं' (अहं) सर्वनाम सार्थक है।

गिरिं रेवयं जन्ती वासेणुल्ला उ अंतरा।
वासंते अंधयारम्मि अंतो लयणस्य सा ठिया।। उत्तर. २२/३३

वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भीग गई। वर्षा हो रही थी, अंधेरा छाया हुआ था, उस समय वह लयन (गुफा) में ठहर गई।

यहां 'सा' पद सर्वनाम है। तद् शब्द से स्त्रीलिंग में आप् प्रत्यय करने पर सा बनता है। इस पद के द्वारा राजीमती की गुणवत्ता, चारित्रिक उदात्तता, रूप-शील रमणीयता आदि अभिव्यंजित हो रहे हैं।

महाकवि कालिदास ने तपोवन वर्धिता बाला की वृक्ष आदि पर सोदर-स्नेह की भाषाभिव्यक्ति 'सा' सर्वनाम पद से की है –

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषुया
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[५२]

यहां 'सा' पद से शकुन्तला का प्रकृति से अपत्य-स्नेह, रूप सौन्दर्य, गुण सौन्दर्य प्रकट हो रहा है।

उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं।। उत्तर. २३/७६

समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह पूरे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

अज्ञान/मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए महावीर रूपी सूर्य का उदय हो गया है। यहां अज्ञानतिमिरहरणता तथा प्रखर तेजस्विता के चित्रण में 'सो' सर्वनाम समर्थ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि।
मरिहिंति ते वराया जिणवयणं जे न जाणंति।।

उत्तर. ३६/२६१

जो प्राणी जिनवचनों से परिचित नहीं है, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाममरण करते रहेंगे।

आप्त-वचन जिनके कानों में प्रविष्ट नहीं हुआ है उनकी स्थिति दयनीय बनती है, उनका संसारभ्रमण अनिवार्य है—इसका बिंबन यहां 'ते' सर्वनाम से हुआ है।

वृत्ति-वैचित्र्य-वक्रता

वृत्ति से अभिप्राय व्याकरण के समास, तद्धित आदि से है। जहां किसी विशेष समास आदि के प्रयोग से भाषा में सौन्दर्य आ जाता है, वहां वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता कहलाती है। आचार्य कुन्तक ने लिखा है –

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता।।[५३]

'तवोसमायारिसमाहिसंवुडे'(१/४७) अर्थात् वह तपः सामाचारी और समाधि से संवृत होता है।

तपः सामाचारिसमाधिसंवृतः तपः सामाचारिसमाधयः तैः संवृतः तपः सामाचारिसमाधिसंवृतः। यहां द्वन्द्व समास तथा तृतीया तत्पुरुष समास है। इस वृत्ति-वैचित्र्यवक्रता से विनीत शिष्य की उदात्तता का वर्णन यहां समास-वृत्ति वक्रता का प्राण है।

'स देवगंधव्वमणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।'

उत्तर. १/४८

देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पंक से बने हुए शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है।

देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः—देवाश्च गन्धर्वाश्च मनुष्याश्च इति देवगन्धर्वमनुष्याः तैः पूजितः इति देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः। यहां पर भी द्वन्द्व समास व तृतीया तत्पुरुष का प्रयोग हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलपंकपूर्वकम्-मलश्च पंकश्च इति मलपंकौ तौ पूर्वौ यस्य तत् मलपंकपूर्वकम्। यहां द्वन्द्व समास तथा बहुव्रीहि का प्रयोग से विनीत शिष्य की सर्वत्र पूज्यता तथा अन्तिम फल स्वरूप शाश्वत सिद्धि की प्राप्ति लक्षित है।

'भोगामिसदोसविसण्णे हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।' (उत्तर. ८/५)

अर्थात् आत्मा को दूषित करने वाले आसक्तिजन्य भोग में निमग्न हित और निःश्रेयस् में विपरीत बुद्धि वाला यहां भोगामिषदोषनिषण्ण :—भोगाश्च आमिषः इति भोगामिषः, भोगाभिषदोषे विषण्णः इतिभोगामिषदोषविषण्णः -यहां षष्ठी तत्पुरुष, सप्तमी तत्पुरुष समास प्रयुक्त है।

व्यत्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धि :—हितञ्च निःश्रेयसश्च इति हितनिःश्रेयसौ, हितनिःश्रेयसयोर्बुद्धिः हितनिःश्रेयसबुद्धिः व्यत्यस्ता हितनिःश्रेयसबुद्धिर्यस्य स व्यत्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिः। द्वन्द्व, षष्ठी तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि का प्रयोग अज्ञानी की भोगासक्ति तथा मोक्ष से विपरीत आचरण के प्रसंग में समासवृत्ति- वैचित्र्यवक्रता के रूप में दर्शनीय है।

लिंग-वैचित्र्य वक्रता

यह वक्रता लिंग-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होती है। भाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करने हेतु एक ही वस्तु के लिए एक साथ भिन्न-लिंगीय शब्दों का प्रयोग तथा जो मानवीय भाव या क्रिया जिस लिंग के व्यक्ति के स्वभाव से अधिक अनुरूपता रखती है उस भाव या क्रिया के प्रसंग में उसी लिंग वाले शब्द का प्रयोग भी लिंग-वैचित्र्य वक्रता है।[५४]

पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं। उत्तर. ९/३६

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं।

यहां कोहं, माणं आदि में— पुल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग का प्रयोग लिंग-वैचित्र्य वक्रता जन्य चमत्कार उपस्थित करता है।

क्रोध आदि आत्मा के बाहर के धर्म है, आत्मधर्म नहीं। इनका नपुंसकलिंग में परिवर्तन बाहरी धर्म की अभिव्यंजना के लिए हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध आदि को जीतना है, आत्मा से बाहर हटाना है तो वह नपुंसकलिंग के प्रयोग से ही संभव है। दमन निर्वीर्य का ही हो सकता है वीर्यवान का नहीं।

अर्धमागधी प्राकृत में लिंग-व्यत्यय का एक कारण 'आर्षम्' सूत्र भी है।

जहा य किंपागकला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे॥

उत्तर. ३२/२०

जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय जीवन का अन्त कर देते हैं, कामगुण विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

यहां कामगुण रूप उपमेय जो पुल्लिंग है, उनके लिए किंपाक-फल उपमान बनाया गया तथा मणोरमा, भुज्जमाणा, पच्चमाणा आदि में नपुंसक के स्थान पर पुल्लिंग के प्रयोग द्वारा लिंग-वैचित्र्य वक्रता का उदाहरण बना है। लिंग-परिवर्तन की अपेक्षा क्यों हुई? इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है-

प्रथम कारण समानाधिकरण (उपमान और उपमेय में) है।

कामगुणों की भयंकरता को अभिव्यक्त करने के लिए भी लिंग-व्यत्यय हुआ है।

यदि किंपागफला की जगह किंपागफलानि कहते तो उतनी भयंकरता, दुर्धर्षता नहीं आती जितनी 'किंपागफला' से प्रकट हुई है। क्योंकि कोई निर्वीर्य/नपुंसक अनेक लोगों का संहार करें, यह बात बुद्धिगम्य नहीं। कारण, उसमें उतना सामर्थ्य ही नहीं। अतः दुर्धर्षता की अभिव्यक्ति पुल्लिंग से ही संभव है, इसलिए भी लिंग-व्यत्यय हुआ है।

क्रिया-वैचित्र्य वक्रता

क्रिया सम्बन्धी विचित्रता क्रिया-वैचित्र्य वक्रता कहलाती है।

कर्तृरत्यन्तरयत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता॥
कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः॥[५५]

क्रिया-वैचित्र्यवक्रता के अनेक रूप हैं –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. वस्तु के वैशिष्ट्य को व्यंजित करने के लिए विशिष्ट अर्थ वाली धातु का प्रयोग।
२. कर्त्ता के द्वारा लोक में अप्रसिद्ध क्रिया के सम्पादन का कथन।
३. कर्त्ता के द्वारा अन्य कर्त्ता की अपेक्षा विचित्र क्रिया के सम्पादन का कथन।
४. विशेषण के द्वारा क्रिया में अर्थविशेष के व्यंजकत्व का आधान।
५. रमणीयता का बोध कराने के लिए अन्य पर अन्य की क्रिया का आरोप।
६. किसी अतिशय या अनिवर्चनीयता की प्रतीति हेतु क्रिया के कर्मादि कारकों की संवृत्ति।

आनंदवर्धन ने इसे तिङन्त व्यंजकता कहा है।

उत्तराध्ययन के कवि की अस्मिता क्रियावक्रता के माध्यम से बड़े प्रभावी व अन्तःस्पर्शी रूप में व्यक्त हुई है –

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥ उत्तर. १/१

जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय को क्रमशः प्रकट करूंगा। मुझे सुनो।

'विणयं पाउकरिस्सामि' अर्थात् विनय को प्रकट करूंगा। प्रकट करना मूर्त्त का धर्म है और विनय अमूर्त्त है, यहां पर अमूर्त्त विनय को मूर्त्त के रूप में चित्रित किया गया है। विनय की उत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिए अमूर्त्त पर मूर्त्तत्व का आरोप हुआ है। राग-द्वेष रहित भिक्षु के चित्त में ही विनय का अवस्थान हो सकता है। यह उपचार-वक्रता का उत्कृष्ट निदर्शन है।

यहां 'पाउकरिस्सामि' में क्रिया-वक्रता है। निरूविस्सामि, कहिस्सामि आदि क्रियाओं का भी प्रयोग किया जा सकता था लेकिन इसी का ही क्यों किया? तात्पर्य है विनय धर्म का मैंने साक्षात्कार किया है, हृदय से उसे जीया है और अब लोक सामान्य के लिए प्रकट कर रहा हूं। यहां उपदेष्टा में उपदेश्य पूर्ण रूप से घटित है, इस बात का प्रकटीकरण 'पाउकरिस्सामि' क्रिया से हो रहा है, साथ ही प्रत्यक्ष अनुभूति की व्यंजना हो रही है। वही उपदेश सफल होता है जिसे उपदेशक ने पहले स्वयं के जीवन में उतारा है फिर संसार को प्रेरणा दी है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षु कौन होता है? इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस गाथा में हुआ है, जो क्रमशः विकास का सूचक है। जो बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों से विमुक्त है, राग-द्वेष से मुक्त है वही अनगार हो सकता है–'आगारं घरं तं जस्स नत्थि सो अणगारो।' जो अनगार है, तपश्चर्या से युक्त है वही भिक्षु है और ऐसे भिक्षु के विनय का मैं प्रतिपादन कर रहा हूं। 'सुणेह' क्रिया से सर्वात्मना सुनने की बात प्रकट हो रही है।

देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खस्सकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति तं।। उत्तर. १६/१६

उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर–ये सभी नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

'नम प्रह्वत्वे शब्दे च' धातु से निष्पन्न 'नमंसंति' क्रिया ब्रह्मचर्य के महत्त्व का प्रतिपादन कर रही है। नम् धातु का अर्थ है– नमस्कार करना, वन्दना करना, सम्मान देना, झुकना, अभिवादन करना (सम्मान सूचक लक्षण), अधीन होना आदि। यहां नम् धातु से केवल नमस्कार करना अर्थ ही नहीं है अपितु आदर देना, सम्मान देना, पूर्ण समर्पित हो जाना आदि अभिव्यंजित हैं क्योंकि कामदेव को अपने वश में करना महा दुष्कर है। जो इस कठिनतम कार्य को साधते हैं उन दमीश्वरों को देव, दानव, राक्षस सभी श्रद्धाप्रणत हो नमस्कार करते हैं, उनके विनय के वशीभूत हो जाते है–यह तात्पर्य नमंसंति क्रिया से प्रकट हो रहा है। देव, दानव आदि के द्वारा ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य का तेज बढ़ाने में नमंसंति क्रिया सहायक बनी है।

कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए।। उत्तर.१/५

जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

भुंजइ क्रिया से यहां सूअर का विष्ठा खाने में तन्मयत्व अभिव्यंजित हो रहा है। सूअर को अच्छे पदार्थ खाने के लिए मिल जाए पर उसे तो विष्ठा खाने में ही आनंद आता है, सुगंधित द्रव्यों में नहीं। सूअर के दृष्टान्त से कवि कहना चाहता है कि अज्ञानी सदाचार को छोड़कर दुराचार में रमण करने के लिए तत्पर होता है। पवित्र आचरण में अज्ञानी व्यक्ति की असमर्थता 'भुंजइ' क्रिया से परिलक्षित हुई है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'रमु क्रीडायाम्' धातु से निष्पन्न 'रमइ' क्रिया इस बात की ओर संकेत कर रही है कि अज्ञानी भिक्षु पूरे मन से दुःशील में ही रमण करता है।

भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि जन्नवाडं उवट्ठिओ॥ उत्तर. १२/३

वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप में उपस्थित हुआ, जहां ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे।

उप उपसर्गपूर्वक स्था धातु से क्त प्रत्यय होकर भूतकालिक कृदन्त-क्रिया-रूप 'उवट्ठिओ' क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण है। उप का अर्थ है—निकटता, समीप, सामने आदि। यज्ञ-मण्डप में आया हुआ मुनि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूप से एक समान है। वह जीवन निर्वहन के लिए कुछ भोजन हेतु उपस्थित है, सामने खड़ा है। वह भोजन जो यज्ञ हेतु सहज निष्पन्न है उसमें से ही माधुकरी वृत्ति के आश्रयण हेतु आया है। यहां 'उवट्ठिओ' क्रिया के द्वारा कवि ने हरिकेशी मुनि के अभिप्राय को शालीनतापूर्वक अभिव्यंजित करने का कौशल दिखाया है।

अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि। उत्तर. १२/९

मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहां आया हूं।

आ उपसर्गपूर्वक गम् धातु से क्त प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'आगओ' क्रिया से गमन और ज्ञान दोनों अभिव्यंजित है। 'मैं भिक्षा के लिए आया हूं' अज्ञानी बनकर, वनीपक बनकर नहीं किन्तु साधु योग्य कर्त्तव्य, एषणीय-अनेषणीय को अच्छी तरह जानता हुआ यहां आया हूं। अन्य भिक्षुओं से अलगाव भी आगओ क्रिया से प्रकट हो रहा है।

'भज्जं जायइ केसवो'। उत्तर. २२/६

अर्थात् केशव ने अरिष्टनेमि के लिए राजीमती की याचना की।

'जायइ' क्रिया-वैचित्र्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'याचृ याञ्चायाम्' धातु से ते प्रत्यय लगकर आत्मनेपदीय याचते रूप बनता है, जिसका अर्थ है—मांगना, याचना करना, निवेदन करना, प्रार्थना करना आदि। केशव ने उग्रसेन के पास जाकर अरिष्टनेमि के लिए सुरूपा राजीमती की ससम्मान याचना की।

'जायइ' क्रिया-व्यापार से केशव की इच्छा को मूर्त्त रूप मिलने का अवसर प्राप्त हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद-परार्ध-वक्रता

इसका सम्बन्ध शब्द के उत्तरार्ध अंश या प्रत्यय आदि से है। इसे प्रत्यय-वक्रता भी कहा जाता है। इसमें प्रत्यय की वक्रता या रमणीयता का वर्णन होता है। इसके छः प्रकार हैं –

कालवैचित्र्य-वक्रता

जब काल या समय-विशेष पर चमत्कार आश्रित हो तो उसे काल-वैचित्र्य-वक्रता कहते है। इसमें औचित्य के अनुकूल समय रमणीयता या चमत्कार को प्राप्त करता है –

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता॥ [५६]
न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं॥

उत्तर. १३/२३

ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बंटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

इस प्रसंग में 'विभयंति' तथा 'अणुजाइ' वर्तमानकालिक क्रिया रमणीयता का आधार है। इसमें आत्मकर्तृत्व मुखर हुआ है। कर्म का सिद्धांत नितांत व्यक्ति पर आश्रित है। व्यक्ति के सुख-दुःख में कोई दूसरा हिस्सा नहीं बंटाता–स्वयं उसे भोगना पड़ता है। यह आत्मकर्तृत्व-भोक्तृत्व यहां काल पर आश्रित है।

जइ तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥ उत्तर. २२/४४

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हड (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा।

'भविस्ससि' क्रिया में यहां कालगत चमत्कार है। राग-भाव के आगमन से ही स्थितप्रज्ञता का लोप हो जाता है। यदि उसका आगमन हो जाएगा तो आत्मा की स्थिति क्या होगी? यह आत्मविषयक भय-व्यंजना भविस्ससि क्रिया से प्रकट हो रही है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारक-वक्रता

इसमें कारक की विचित्रता ही रमणीयता का आधार होती है। इस वक्रता में कवि किसी कथ्य की अभिव्यक्ति में कारकों का विपर्यय कर देता है। कारक-वक्रता को निर्दिष्ट करते हुए आचार्य कुन्तक लिखते हैं–

यत्र कारक सामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः।।
परिपोषयितुं कांचिद् भंगीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता।।[५७]

सामान्य कारक का प्रधान रूप से या प्रधान कारक का सामान्य रूप से कथन कर किसी अपूर्व भंगिमा का प्रतिपादन किया जाय तो कारक-वक्रता होती है। यहां कर्त्ता को कर्म या करण, कर्म या करण को कर्त्ता, अचेतनत्व पर चेतनत्व या गौण कारकों पर कर्तृत्व का आरोप किया जाता है।

उत्तराध्ययन में कारक-वक्रता के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है –

'विणए ठवेज्ज अप्पाणं' उत्तर. १/६

मनुष्य अपने आपको विनय में स्थापित करे।

'विणए' सप्तमी विभक्ति आधार स्वरूप अधिकरण का रूप है। आधार वही होगा जो मूर्त्त हो। यहां अमूर्त्त का मूर्त्तत्व-आधारत्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

'पावदिट्ठि त्ति मन्नई' उत्तर. १/३८

पापदृष्टि ऐसा मानता है। पाप से युक्त दृष्टि या पापपूर्ण दृष्टि पापदृष्टि है। यहां पापदृष्टि वाला शिष्य (अविनीत शिष्य) गुरु के कल्याणकारी वचन को भी अन्यथा मानता है। यानि पापदृष्टि पर कर्तृत्व का आरोप हुआ है। कारक-वैचित्र्य का यह उत्कृष्ट निदर्शन है।

'खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।'

उत्तर. ४/१०

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उठो, कामभोगों को छोड़ो।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां 'पहाय कामे' कामनाओं को छोड़ो—छोड़ना मूर्त्त का धर्म है, कामनाएं अमूर्त्त है। यहां अमूर्त्त कामनाओं पर मूर्त्त-छोड़ने को आरोपित किया है। मूर्त्त कर्म के स्थल में अमूर्त्त कर्म का प्रयोग कारक-वैचित्र्य-वक्रता है।

इसी प्रकार—

अदीणमणसो (२/३) प्रथमा के अर्थ में षष्ठी विभक्ति, **दुरुत्तरं (५/१)** सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति (टीकाकार ने इसे क्रिया-विशेषण भी माना है), **माया (९/५४)** तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति, **मित्तेसु (११/८)** चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति,**सव्वकम्मविनिम्मुक्कं (२५/३२)** प्रथमा के अर्थ में द्वितीया—आदि उदाहरण कारक-वक्रता से मंडित है।

वचन (संख्या) वक्रता

कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतंत्रिताः।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः॥[५८]

जब कवि अत्यधिक सौन्दर्य-सृष्टि के लिए काव्य में वचन-विपर्यय इच्छापूर्वक कर दे तो वहां संख्या-वक्रता होती है। इसका प्रयोजन ताटस्थ्य आदि भाव की प्रतीति कराना है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का हेतु है। यथा—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं से दसंगेऽभिजायई॥ उत्तर. ३/१६

वे देव उन कल्पों में अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होने पर वहां से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहां दस अंगों वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

यहां बहुवचन के स्थान पर एकवचन 'से' का प्रयोग वचन की रमणीयता का अभिव्यंजक है।

असंखयं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणहि जणे पमत्ते कण्णु विहिंसा अजया गहिंति॥

उत्तर. ४/१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन साधा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे–यह विचार करो।

यहां सामूहिक प्रयोग की अभिव्यक्ति के लिए 'जणे पमत्ते' में बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग अधिक चामत्कारक तथा आह्लादक है।

उपग्रह-वक्रता

जब कवि औचित्य के कारण रमणीयता की उत्पत्ति के लिए आत्मनेपद एवं परस्मैपद में से किसी एक का प्रयोग करे तो उपग्रह-वक्रता होती है –

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्।।[५९]

उपग्रह विचलन कवि-कथन की वक्रता को विलक्षण रमणीयता प्रदान कर रहा है –

आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई।। उत्तर. ३/९

कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी उससे भ्रष्ट हो जाते हैं। यहां श्रद्धा नहीं होने से अच्छी बातों में भी आचरण की असमर्थता के कारण भ्रष्टता के द्योतन में 'परिभस्सई' का प्रयोग उपग्रह-वक्रता के सौन्दर्य को व्यक्त करता है।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसइ जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा।।

उत्तर. १२/३७

यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

उच्चता और नीचता का मानदंड तप, संयम और पवित्रता ही है, जाति नहीं–इसके प्रस्तावन में 'दृश् प्रेक्षणे'[६०] धातु से निष्पन्न 'दीसइ' का प्रयोग चामत्कारक है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यय-वक्रता

जब कवि प्रत्ययों से भिन्न एक प्रत्यय में अन्य प्रत्यय को लगाकर सौन्दर्य की सृष्टि करे तो प्रत्यय-वक्रता होती है। इसमें सामान्यतः प्रत्ययों के चमत्कार पर बल दिया जाता है। प्रत्यय जब अपूर्व रमणीयता करे तो यह वक्रता होगी।

विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम्।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता।।[६१]

उत्तराध्ययन में प्रत्यय-वक्रता –

देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे।। उत्तर. ७/१७

लोलुप और वंचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व से पहले ही हार जाता है।

देव शब्द दिव् धातु से अच् प्रत्यय करने पर बनता है। पहले से ही अच् प्रत्यय विद्यमान है, उसके बाद 'त्व' (प्राकृत त्त) प्रत्य लगा है।

मानुष शब्द में अप् और सुक् (स्) प्रत्यय की विद्यमानता में ही त्व प्रत्यय और लगाकर शब्द-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की गई है और यह शब्द मनुष्य-भाव का अभिधायक शब्द है।

'उवसंत मोहणिज्जो, सरई पोराणियं जाइं।। उत्तर. ९/१

नमि राजा का मोह उपशांत था, इसलिए उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई।

यहां 'पोराणियं' शब्द प्रत्यय-वक्रता की दृष्टि से विचारणीय है। पुराण शब्द से इक प्रत्य करने पर पौराणिक शब्द बनता है। प्राकृत में पोराणिय तथा द्वितीया एकवचन में पोराणियं बनता है।

उपसर्ग-वक्रता

जब उपसर्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग शब्द एवं अर्थ की रमणीयता विधायक हो तो उपसर्ग-वक्रता होती है। वक्रोक्तिकार के शब्दों में –

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता।।[६२]

जहां भावविशेष की व्यंजना द्वारा उपसर्ग भी रसद्योतन में सहायक

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वहां उपसर्ग-वक्रता होती है। उत्तराध्ययन का प्रसंग इस संदर्भ में द्रष्टव्य है –

रहनेमी अहं भद्दे सुरूवे! चारुभासिणि!।
ममं भयाहि सुयणू! न ते पीला भविस्सई। उत्तर. २२/३७

भद्रे! मैं रथनेमि हूं। सुरूपे! चारूभाषिणि! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।

कामासक्त रथनेमि स्वयं को अंगीकार करने के लिए राजीमती को सुरूवे!, सुयणू! आदि सम्बोधनों से याचना कर रहा है। कर्मधारय और बहुव्रीहि समास बनाने के लिए संज्ञा शब्दों से पूर्व सु जोड़ा जाता है, विशेषण और क्रियाविशेषणों में भी जुड़ता है।[६३]

यहां सुरूवे, सुयणू में 'सु' उपसर्ग के द्वारा राजीमती का शरीर-सौन्दर्यातिशय अभिव्यंजित है। उसके शारीरिक सौन्दर्य के आधार पर रथनेमि का आकर्षण भी अभिव्यक्त होता है।

जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तणं।। उत्तर. १९/३९

जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन है।

दुस् उपसर्ग 'बुराई', 'कठिनाई' का अर्थ प्रकट करने के लिए स्वरादि तथा घोषवर्णादि से आरम्भ होने वाले शब्दों से पूर्व लगाया जाता है। यहां सु, दुस् उपसर्ग श्रमण-धर्म के पालन की, संयमजीवन के स्वीकार की अत्यधिक कठिनता को व्यक्त कर रहा है।

निपात-वक्रता

निपात का एक अर्थ है—अव्यय, वह शब्द जिसके और रूप न बने।[६४]

जहां निपात भाव-विशेष की व्यंजना द्वारा रसद्योतन में सहायक होता है, वहां निपातवक्रता होती है।

'निपातस्वरादयोऽव्ययम्'[६५] निपात की अव्यय संज्ञा होती है। व्याकरण की दृष्टि से वह शब्द जिसके रूप में वचन, लिंग आदि के कारण कोई विकार नहीं होता –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्यम्।[६६]

यास्क ने अव्ययों (निपातों) को तीन रूपों में वर्गीकृत किया हैं –

१. उपमार्थक–इव, यथा, न, चित्, वा आदि।

२. पादपूरणार्थक–उ, खलु, नूनम्, हि, सिम् आदि।

३. कर्मोपसंग्रहार्थक (अर्थसंग्रहार्थक)–च, वा, समं, सह आदि।

आगम में प्रयुक्त अव्ययों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – १. तद्धितान्त, २. कृदन्त, ३. रूढ़

तद्धितान्त

तद्धितप्रत्ययों से निष्पन्न अव्यय तद्धितान्त कहलाते हैं। यथा–तत्थ, इह, एगया, सव्वओ आदि।

'एगया खत्तिओ होइ तओ चंडाल बोक्कसो।' उत्तर. ३/४

वही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस।

'एगया' कालवाची तद्धित प्रत्यान्त अव्यय है। एक शब्द से काल अर्थ में 'दा' प्रत्यय करने से एकदा रूप बनता है।

यहां 'एगया' अव्यय कृतकर्मों के अनुसार मनुष्यों के संसार भ्रमण का सूचक है।

'तओ' अव्यय तद् शब्द से तस् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है।

'तत्थ ठिच्चा जहाठाणं जक्खा आउक्खए चुया।' उत्तर. ३/१६

वे देव उन कल्पों में अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होने पर वहां से च्युत होते हैं।

तत्थ अव्यय काल एवं देशवाचक है। यह उस स्थान पर, वहां, उस ओर, उसके लिए आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। तद् सर्वनाम शब्द से तद्धित का त्रल् प्रत्यय[६७] करने पर तत्र शब्द बनता है। प्राकृत में 'त्रल्' प्रत्यय के स्थान पर हि, ह, त्थ का प्रयोग होता है।[६८]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृदन्त

कृत्य प्रत्ययों के योग से होने वाले अव्यय कृदन्त है। जैसे—णच्चा, वोसिज्ज, अभिभूय आदि।

'चउरंगं दुल्लहं नच्चा संजमं पडिवज्जिया।' उत्तर. ३/२०

चार अंगों (मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य) को दुर्लभ मानकर संयम स्वीकार करते हैं।

'ज्ञा अवबोधने'[६९] धातु से त्वा प्रत्यय लगकर संस्कृत रूप णत्वा का प्राकृत में नच्चा रूप बनता है। जिसका अर्थ है सम्यक् रूप से जानकर। सम्यक् रूप से जाने बिना किसी भी सिद्धांत का व्यावहारिक आचरण नहीं होता है। यहां नच्चा अव्यय चार अंगों की दुर्लभता का ज्ञान कराकर शांतरस की उद्‌भावना में सहायक बना है।

रूढ़

जो प्रकृति, प्रत्यय आदि विभागों से रहित है, वह रूढ़ कहलाते हैं। च, वा, ण आदि।

माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं ध्रुवं।। उत्तर. ७/१६

मनुष्यत्व मूल धन है। देवगति लाभ रूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यंच गति में जाते हैं।

मनुष्य का मूल धन मनुष्यत्व है। मनुष्य जन्म की दुर्लभता सर्व-सम्मत है। शंकराचार्य ने विवेक चूडामणि में लिखा है –

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहकेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

चौरासी लाख जीवयोनि में भ्रमण करते-करते किसी प्रकार दुर्लभ मनुष्यत्व को प्राप्त करके भी प्रमादवश जो उसका लाभ नहीं उठाते हैं वे अपने मूलधन के नाश से निश्चित रूप से निम्न गतियों में जाते हैं। यहां 'ध्रुवं' निपात से मूलविनाशक जीव का निश्चित निम्नगमन अभिव्यंजित है।

अहो! वण्णो अहो! रूवं, अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खंती अहो! मुत्ती, अहो! भोगे असंगया।। उत्तर. २०/६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य कैसा वर्ण और कैसा रूप है। आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है। आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है। आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है।

उद्यान में रमण करने के लिए गया हुआ नृप श्रेणिक अनाथी मुनि के रूप-लावण्य को देख विस्मित हो कहते हैं 'अहो! वण्णो अहो! रूवं.....'।।

'अहो ही च विस्मये'[७०] 'ओहाङ् गतौ' धातु से डो प्रत्यय करने पर 'अहो' रूप निष्पन्न होता है। यह निपात 'आश्चर्य' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहां 'अहो' निपात मुनि की शरीर-संपदा तथा चरित्र की उत्कृष्टता को प्रतिध्वनित करता है। राजा पूर्ण यौवन में रूप-लावण्य युक्त कुमार को मुनि अवस्था में देख विस्मित हो जाता है और यह विस्मय शान्त रस की अनुभूति का हेतु बनता है।

'अहोसुभाण कम्माणं निज्जाणं पावगं इमं' उत्तर. २१/९

अहो! यह अशुभ कर्मों का दुःखद निर्याण–अवसान है।

यहां 'अहो' अव्यय से कर्मों की विचित्रता का दर्शन हो रहा है।

धिरत्थु ते जसोकामी! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे। उत्तर. २२/४२

हे यशः कामिन्! धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेयस्कर है।

राजीमती के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो रथनेमि संयमरत्न से भ्रष्ट हो भोगी बनना चाहता है, उसी समय शौर्य-ओज युक्त वाणी में वह धिक्कारती है 'धिरत्थु ते जसोकामी!' यहां धिक् निपात एक ओर राजीमती की संयम के प्रति अटूट आस्था को व्यक्त कर रहा है तो दूसरी ओर रथनेमि की भर्त्सना, निन्दा, मानवीय स्वभाव की दुर्बलता का सातिशय द्योतन कर रहा है। यह प्रसंग निपात-वक्रता का श्रेष्ठ उदाहरण बना है।

'धिक्' निपात 'धक्क नाशने' धातु से बहुलता से डिक् प्रत्यय करने पर बनता है। जिसका अर्थ है भर्त्सना करना, निन्दा करना–'धिग्भर्त्सने व निन्दायाम्।'[७१]

रथनेमि का शौर्य जागृत करने में राजीमती का कथन धिगस्तु...

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा रथनेमि के प्रति रौद्र रस के उद्दीपन विभाव की योजना में सहायक बनता है।

वाक्य-वक्रता

जब संपूर्ण वाक्य के कारण रमणीयता या विच्छित्ति (वक्रता) का आधान किया जाय तो वाक्य-वक्रता होती है। आचार्य कुन्तक ने समस्त अलंकार प्रपंच को वाक्य-वक्रता के अंतर्गत माना है।

इसमें वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। वक्रोक्तिकार के शब्दों में --

उदारस्वपरिस्पन्दसुंदरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।।[७२]

वस्तु का उत्कर्ष-युक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है। तात्पर्य जहां किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज-वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का अर्थ-सौन्दर्य उत्पन्न हो गया हो, उसे वाक्य-वक्रता कहते है।

तथ्य की अभिव्यक्ति तथा रसात्मक वाक्य के प्रयोग से रचना में नवीनता, मौलिकता आती है। प्रसंग के अनुरूप वाक्य-प्रयोग रचनाकार की रचनाधर्मिता के स्तर को द्योतित करते हैं। वाक्य-वक्रता की दृष्टि से उत्तराध्ययन महत्त्वपूर्ण है। रचनाकार ने छोटे-छोटे वाक्यों में सहज-स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत कर वाक्य में सुन्दरता का अभिनिवेश किया है। निम्न पद्यों में कवि की वाक्य-वक्रता प्रकट हो रही है --

सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा।। उत्तर, १३/१६

सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दुःखकर हैं।

विलाप प्रपंच है, सत्य नहीं। सामान्य रूप से विलाप शब्द शोक का सूचक है। विलाप मन का तोष मात्र है, उस समय मस्तिष्क काम नहीं करता। सांसारिक गीत मिथ्या है। भोगविलास के साधन प्राप्त होने पर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका भय हमेशा बना रहता है कि उसे कोई चुरा नहीं ले जाये। कामभोग क्षणिक सुख देने वाले पर परिणाम में दुःखदायी होने से दुःखकर है।

इस प्रकार परमार्थ में सांस लेने वाले व्यक्ति का काम-भोगों के प्रति कैसा दृष्टिकोण होता है, इस बात का सहज-स्वाभाविक चित्रण इस गाथा में कथित चार बातों से हुआ है।

नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं। उत्तर. १/१४

बिना पूछे कुछ भी न बोलें। पूछने पर असत्य न बोलें। क्रोध आ जाए तो उसे विफल कर दें। प्रिय और अप्रिय को धारण करें–राग और द्वेष न करें।

विनीत शिष्य को कर्त्तव्य का निर्देश तथा शिक्षा देते हुए कहा गया–'नापुट्ठो वागरे किंचि' बिना पूछे कुछ भी न बोले अर्थात् गुरु जब तक 'यह कैसे?' ऐसा न पूछे तब तक शिष्य कुछ भी न बोले। इस वाक्य से यह भी प्रकट हो रहा है कि गुरु ही नहीं, बिना पूछे कहीं भी और कभी भी कुछ न कहे। 'कोहं असच्चं कुव्वेज्जा' क्रोध को असत्य कर दे। मोहनीय कर्म की विद्यमानता में क्रोध का उदय भी संभाव्य है, सर्वत्र उसे सफल करना उचित नहीं– इस प्रकार औचित्यपूर्ण वाक्यों का यहां प्रयोग हुआ है।

नमि राजर्षि ने यौवनावस्था में ही प्रचुर कामभोगों को छोड़ संयम स्वीकार किया। देवेन्द्र ने परीक्षण करना चाहा। अनेक तर्क-वितर्कों के बावजूद भी राजर्षि को विचलित न होते देख उनकी त्याग-भावना से अभिभूत हो नमि की स्तुति करते हुए इन्द्र कहता है –

अहो! ते निज्जिओ कोहो, अहो! ते माणो पराजिओ।
अहो! ते निरक्किया माया, अहो! ते लोभो वसीकओ॥

उत्तर. ९/५६

हे राजर्षि! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है!

भोग-प्रधान संसार में प्राप्त-भोग का तरुण-वय में परिहार भोगासक्त

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों के लिए आश्चर्य का ही विषय है। यहां 'अहो! ते निज्जिओ कोहो' आदि पदों द्वारा वाक्य-विन्यास का सुन्दर निदर्शन उपस्थित किया गया है।

प्रकरण-वक्रता

जब किसी प्रबंध के एक देश या कथा के एक अंश (प्रकरण) के कारण सौन्दर्य का आधान हो तो प्रकरण-वक्रता होती है। प्रबंध के किसी प्रकरण-विशेष में वैचित्र्य होने पर यह भेद होता है। 'संपूर्ण प्रबंध को दीप्त करने वाला प्रबंध के एक देश का चमत्कार प्रकरण-वक्रता के नाम से अभिहित होता है।'[03] इसकी भी कई स्थितियां होती हैं –

१. भावपूर्ण और रोमांचकारी स्थितियों की उद्भावना

२. विशिष्ट-प्रकरण की अतिरंजना

३. मूलकथा के साथ किसी अल्पावधि कथा की रोमांचक प्रस्तुति

४. नगर, उद्यान आदि का भव्य वर्णन

५. जलक्रीड़ा, द्यूतक्रीड़ा आदि प्रसंगों की उद्भावना

६. प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए अप्रधान प्रसंगों की प्रस्तुति आदि।

उत्तराध्ययन के निम्न प्रसंगों में प्रकरण-वक्रता बड़े कौशल के साथ उजागर हुई है –

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई।। उत्तर. १/४

जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है।

यहां अविनीत शिष्य के वर्णन के प्रसंग में 'सड़े कानों वाली कुतिया' का वर्णन जुगुप्सा-भाव की अभिव्यंजना में समर्थ है। चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार 'शुनी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त गर्हा एवं कुत्सा को व्यक्त करने के लिए किया गया है।[04]

जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी अणुकंपओ तस्स महामुणीस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं इमाइं वयणाइमुदाहरित्था।।उत्तर. १२/८

उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकंपा करने वाला तिन्दुक

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला।

यहां हरिकेशबल मुनि की कथा के प्रसंग में यक्ष की कथा, मुनि के शरीर में यक्ष प्रवेश का घटना प्रसंग आदि में आगम में भी नाटकीय रोमांचकता उपस्थित है। यक्ष का रौद्र रूप ब्राह्मणों को तपस्वी की शरण के लिए विवश करता है।

रहनेमिज्जं अध्ययन में विवाह के लिए सज्जित वृष्णिपुङ्गव के द्वारा मार्ग में भय से संत्रस्त तथा मरणासन्न दशा को प्राप्त प्राणियों को देखकर, ये प्राणी मेरे ही विवाह-कार्य में लोगों के भोजन के लिए बाड़ों में अवरुद्ध हैं—इस प्रकार जीववध प्रतिपादक वचन सुन कर वृष्णिपुङ्गव का वापस मुड़ जाना, अपने आप पंचमुष्टि लोच करना तथा स्वयं कृष्ण द्वारा शुभ-आशीर्वाद देना आदि अचानक परिवर्तन में चारूगत विद्यमानता को द्योतित करते हैं –

वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसू तं दमीसरा।। उत्तर. २२/२५

वासुदेव ने लुंचितकेश और जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि से कहा—दमीश्वर! तुम अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

इस प्रकार अरिष्टनेमि का भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर प्रयाण, भोग से योग की कहानी प्रकरण-वक्रता का अच्छा उदाहरण है।

इसी अध्ययन में –

चीवराइं विसारंती जहाजाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो पच्छा दिट्ठो य तीइ वि।। उत्तर. २२/३४

चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने यथाजात रूप में देखा। वह भग्नचित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया।

वर्षा से वस्त्रों के भीग जाने से उसे सुखाने के लिए राजीमती का यथाजात होना प्रकरण-वक्रता का उदाहरण है। राजीमती विद्युत् की तरह चमकी पर पूरे अध्ययन पर उसका प्रभाव परिलक्षित हो रहा है।

प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता के अंतर्गत महाकाव्य, नाटक आदि के वास्तु-कौशल

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वर्णन होता है। इसमें प्रबन्ध के समस्त सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। कुंतक ने इसके छः प्रकारों का निर्देश किया हैं, जो पूर्व में निर्दिष्ट है।

उत्तराध्ययन में प्रबन्ध-वक्रता

चौदहवें 'उसुयारिज्जं' अध्ययन में भृगु-पुरोहित के दोनों पुत्र संयम-भावना से ओत-प्रोत हो माता-पिता से संयम की आज्ञा प्रदान करने की अनुमति चाहते हैं तब वे पुत्रों को समझाते हैं अभी संयम ग्रहण मत करो। उस समय कुमारों ने जो उत्तर दिया वह प्रबन्ध-वक्रता का सुंदर उदाहरण है–

जहा वयं धम्ममजाणमाणा पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियंता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो।।

उत्तर. १४/२०

हम धर्म को नहीं जानते थे तब घर में रहे, हमारा पालन होता रहा और मोह वश हमने पाप कर्म का आचरण किया। किन्तु अब फिर पाप-कर्म का आचरण नहीं करेंगे।

इस अध्ययन में पुरोहित तथा उसकी पत्नी यशा दोनों ब्राह्मण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए दोनों कुमारों को संयम से रोकने का प्रयास कर रहे हैं। भृगुपुत्र संयम.फल की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हैं। श्रमण-संस्कृति को उजागर करते हुए वे अपने तर्कों से माता-पिता को भी संसार की असारता और क्षणभंगुरता का दर्शन कराते हैं। ऐसा विश्वास पैदा होने पर वे भी संयम-पथ के पथिक बन जाते हैं।

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा।। उत्तर. २२/७

वह राजकन्या सुशील, चारु-प्रेक्षिणी (मनोहर-चितवन वाली), स्त्री.जनोचित सर्व.लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

इस श्लोक में राजीमती के रूप-लावण्य का मनोहारी वर्णन किया गया है और पूरे प्रबन्ध में वह अपने शील, चारित्र एवं गुणों की उदात्तता के कारण दीप्तिमान बनी रहती है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।। उत्तर. ४/५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता। अन्धेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो उसकी भांति, अनन्त मोहवाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता।

धन से कभी मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता है, इस शाश्वत सत्य की अभिव्यंजना से प्रबन्ध-वक्रता में निखार आया है। यहां अज्ञानता को अंधेरी गुफा से उपमित कर तथ्य की अभिव्यंजना की गई है।

परिग्रह मोह का आयतन है। जब तक व्यक्ति परिग्रह में आकंठ डूबा रहता है तब तक सत्संगति भी उसे सन्मार्ग की ओर नहीं ले जा सकती। मोहयुक्त चित्त सदा संदेहग्रस्त रहता है तथा संदेहग्रस्त व्यक्ति के दिन में भी जितना अंधकार होता है उतना रात्रि का अंधकार भी नहीं होता –

जो अत्तवीसासपगासपत्तो तेणंधयारो सयलो वि तिण्णो।
राओ वि णो तारिसमंधयारं संदेहघत्तस्स जहा दिणे वि।।

मोह के कारण अंधकार है। मोह दूर होगा तभी आत्मविश्वास प्राप्त होगा।

इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धांत के व्यापक रूप में अलंकार, ध्वनि, रस आदि पूर्व-प्रचलित सिद्धांतों का समन्वय किसी न किसी रूप में हो जाता है। कुन्तक की 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' में रीति के गुणों का, 'पद-पूर्वार्धि-वक्रता' और 'पद-परार्ध-वक्रता में शब्दालंकारों का, 'वाक्य-वक्रता' में अर्थालंकारों का, 'प्रकरण-वक्रता' में ध्वनि का और 'प्रबन्ध-वक्रता' में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। साथ ही इसके सूक्ष्म भेदों के अंतर्गत काव्य की शैली के अनेक तत्त्वों का विवचेन प्राप्त होता है। मौलिकता और व्यापकता की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

कवि कला से संसार को जीत लेता है। उत्तराध्ययन काव्य में साभिप्राय वक्रता के विभिन्न प्रयोग उसकी काव्यभाषागत संरचना को अभिनव आयाम प्रदान करते हैं। अर्थ-समृद्धि के सम्पोषक के साथ काव्यप्रतिभा को भी नया गठन, नया सौन्दर्य प्रदान कर उसे अभिनव रूपों में उभारते हैं। प्राचीन आचार्यों के शब्दों में पुनः कहा जा सकता है–सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः... कोऽलङ्करोऽनया विना– यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है.....कौन सा सौन्दर्य है जो इसके बिना हो।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ -

१. मेघदूत, पूर्वमेघ २७

२. कादम्बरी पूर्वार्द्ध, पृ. ८७ उद्धृत भारतीय साहित्यशास्त्र कोष, पृ. ११२५

३. काव्यालंकार, २/८५

४. वक्रोक्तिजीवितम् १/१० पृ. २२

५. वक्रोक्तिजीवितम्, १/१८

६. हिन्दी सेमेटिक्स, पृ. ३०६

७. वक्रोक्तिजीवितम्, २/१

८. वक्रोक्तिजीवितम्, २/८-९

९. संस्कृत धातु-कोष पृ. १२४

१०. व्यवहारभाष्य, ४ . २ टीकापत्र २७

११. संस्कृत धातुकोष, पृ. ११९

१२. सूत्रकृतांग चूर्णि, - १ पृ. ६०

१३. स्थानांग टीका, पत्र २७२

१४. सूत्रकृतांग १.१६ हिन्दी टीका

१५. 'एष एव च शब्दशक्तिमूलानुकरणरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा' वक्रोक्तिजीवितम् २/१०-१२ पृ. ९५

१६. 'निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः' अमरकोष ३/१/२५

१७. शान्त्याचार्य टीका, पत्र ५२

१८. दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि पृ. ३३

१९. संस्कृत धातुकोष, पृ. ९३

२०. संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. ८१०

२१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६२

२२. स्थानांग टीका, पत्र १९१

२३. अमरकोश, रामाश्रमी व्याख्या पृ. ९१

२४. संस्कृत धातुकोष पृ. १००

२५. संस्कृत धातुकोष, पृ. १५

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. ८५२

२७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७

२८. साहित्यिक निबन्ध, पृ. ६३

२९. वक्रोक्तिजीवितम्, २/१३, १४

३०. विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २

३१. वक्रोक्तिजीवितम् २/१५

३२. अमरकोष १/५/२

३३. आचारांग चूर्णि पृ. २२५

३४. विशेषावश्यकभाष्य, १०६४

३५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५

३६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५

३७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५

३८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३/३६ पृ. २०३

३९. मेदिनी पृ. ११५/३४, ३५

४०. अमरकोष, पृ. ३२५, ३२६

४१. आवश्यक चूर्णि २ पृ. २५४

४२. कुमारसंभव १/५९

४३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २०३

४४. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र ४१६

४५. संस्कृत धातुकोष, पृ. २२

४६. अमरकोष, ३/१/७८

४७. अमरकोष, १/१/१३

४८. विशेषावश्यकभाष्य, १०४८

४९. संस्कृत धातुकोष, पृ. ४८

५०. वक्रोक्तिजीवितम् २/१६

५१. 'नाथः योगक्षेमविधाता' बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. अभिज्ञानशाकुन्तल, ४/८

५३. वक्रोक्तिजीवितम्, २/१९

५४. वक्रोक्तिजीवितम्, २/२१, २२, २३

५५. वक्रोक्तिजीवितम्, २/२४, २५

५६. वक्रोक्तिजीवितम्॥ २/२६

५७. वक्रोक्तिजीवितम् २/२७, २८

५८. वक्रोक्तिजीवितम्, २/२९

५९. वक्रोक्तिजीवितम् २/३१

६०. संस्कृत धातु कोष पृ. ६४

६१. वक्रोक्तिजीवितम्, २/३२

६२. वक्रोक्तिजीवितम् २/३३

६३. संस्कृत-हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे पृ. ११०९

६४. पाणिनि की अष्टाध्यायी १/४/५६

६५. कालूकौमुदी, पूर्वार्ध सू. २९२

६६. कालुकौमुदी, पूर्वार्ध सू. २९४

६७. 'ससम्यांस्त्रल्' पाणिनि अष्टाध्यायी, ५/३/१०

६८. 'त्रपो हि-ह-त्थाः' तुलसी मंजरी, सू. ५९६

६९. संस्कृत धातुकोष, पृ. ५०

७०. अमरकोष, पृ. ६३४

७१. मेदिनी, पृ. १७९ श्लोक ११

७२. वक्रोक्तिजीवितम्, ३/१

७३. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित भूमिका, पृ. ९४

७४ (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २७ : अथ शुनीग्रहणं शुनी गर्हिततरा, न तथा श्वा।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५ : स्त्रीनिर्देशोऽत्यन्तकुत्सोपदर्शकः।

◆◆◆

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. उत्तराध्ययन में रस, छंद एवं अलंकार

रस

साहित्य में रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसे नमकरहित भोजन स्वादिष्ट नहीं होता वैसे ही रसविहीन साहित्य सरस नहीं होता।भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रस शब्द सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। फलों के क्षेत्र में रस मधुरतम तरल पदार्थ है। संगीत के क्षेत्र में श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त आनन्द रस है। चिकित्सा के क्षेत्र में रस प्राणदायिनी औषधियों का द्योतक है। आप्टे ने सत्, सार, तत्त्व, सर्वोत्तम भाग, आनन्द, प्रसन्नता आदि अर्थों में इसे निर्दिष्ट किया है।[1] 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'[2] कहकर परमात्मा को ही रस कहा गया है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड ही नहीं, उसकी महत्तम उपलब्धि है। अभिनव गुप्त ने रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना, वस्तु तथा अलंकार ध्वनि को ध्वनि तो माना किन्तु उन्हें काव्य की आत्मा नहीं माना क्योंकि वस्तु, अलंकार कभी तो वाच्य होते हैं और कभी व्यंग्य। रस तो कभी भी वाच्य नहीं होता है। यह तो वाच्यासहिष्णु व्यंग्य होता है। इसलिए इसे ही काव्य की आत्मा माना है।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर संकेत कर लिखा – एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।[3] फिर भी पूर्वग्रंथों की अनुपलब्धि के कारण भरत ही रस के प्रवर्त्तक माने गये।

रसोत्पत्ति

रस-दशा के संदर्भ में भरत मुनि ने कहा – 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[4] विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अनेक व्यंजनों तथा औषधियों के संयोग से जैसे रस की उत्पत्ति होती है, वैसे ही विविध भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परवर्ती आचार्यों ने इस रस-सूत्र के आधार पर अनेक मत स्थापित किये। उनमें प्राचीन आचार्यों में भट्ट-लोल्लट (उत्पत्तिवाद), श्रीशंकुक (अनुमितिवाद), भट्टनायक (भोगवाद), अभिनव-गुप्त (अभिव्यक्तिवाद) तथा आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, नगेन्द्र, गुलाबराय आदि उल्लेखनीय हैं।

भरत के रस-सूत्र से रस-स्वरूप के निम्न तथ्यों का प्रतिपादन होता है–

- रस अनुभूति का विषय है किंतु वह स्वयं अनुभूति नहीं है।
- अपने स्वतंत्र अस्तित्व के बावजूद भी विभाव, अनुभाव आदि रस में विलीन हो जाते हैं और रस स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रकट होता है।
- रस के विभिन्न अवयवों, अभिनयों द्वारा संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रस-रूप में परिणत होता है। अनेक भावों के योग से रसोत्पत्ति होती है।
- सुसंस्कृत अन्न को खाकर व्यक्ति प्रसन्न होता है वैसे ही भावों और अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का आस्वादन कर दर्शक आनंद- समुद्र में सरोबार हो जाता है।

रस -सामग्री

स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के प्रमुख अवयव हैं।

स्थायी भाव

रसानुभूति का आभ्यन्तर कारण स्थायी भाव है। यह वासना रूप में सहृदय के हृदय में विद्यमान रहता है तथा अनुकूल संयोगों से इसे अभिव्यक्त होने का अवसर मिल जाता है। स्थायी भावों को सर्वभावों में महान कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है –

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा: ।
आस्वादांकुर-कंदोऽसौ भाव: स्थायीति सम्मत: ॥[5]

जिसे विरोधी या अविरोधी भाव अपने में तिरोहित करने में अक्षम होते हैं और जो आस्वाद का मूल होता है, उसे स्थायी भाव कहते हैं। श्री-रूप गोस्वामी ने स्थाई भाव को 'उत्तम राजा' की संज्ञा से अभिहित किया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाट्यशास्त्र में आठ स्थायी भाव स्वीकृत हैं – रति, हास, शोक, क्रोध, बीभत्स, भय, जुगुप्सा और विस्मय।

विश्वनाथ ने स्थायी भावों की संख्या नव बताई–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः शमोपि च॥[६]

विभाव

रति आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति के कारण को विभाव कहते हैं। ये रस को विशेष रूप से अनुभूति योग्य बनाते हैं। विश्वनाथ के अनुसार लोक में जो पदार्थ रति आदि को उद्‌बोधित करते हैं, उनको काव्य या नाटक में विभाव कहा जाता है –'रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।'[७]

इसके दो भेद हैं– आलंबन और उद्दीपन। जिस पर भाव या रस अवलंबित रहता है, उसे आलंबन कहते हैं – **यमालंब्य रस उत्पद्यते स आलंबन विभावः।**[८]

रस को उद्दीप्त या तीव्र करने वाले विभाव को उद्दीपन विभाव कहते हैं **– यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपन विभावः।**[९]

आलम्बन यदि आग लगाने वाला अंगारा है तो उद्दीपन अनुकूल हवा की तरह उसे बढ़ाने में योग देता है। वर्षा के बीच आग बुझ जाती है, वैसे उद्दीपन की प्रतिकूलता में आलम्बन का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

अनुभाव

रस का कार्य अनुभाव है। यह अनुभूति को अभिव्यक्ति देने का साधन है। आलम्बन व उद्दीपन से जिसमें भाव उत्पन्न होते हैं उसे 'आश्रय' कहते हैं। हृदयगत भावों से आश्रय की शारीरिक, मानसिक अवस्था में परिवर्तन होता है उसके द्योतक चिह्नों को अनुभाव कहा जाता है। धनंजय ने भाव को सूचित करने वाले विकार को अनुभाव कहा– **अनुभावो विकारस्तु भाव-संसूचनात्मकः।**[१०]

संचारीभाव

संचारी व व्यभिचारी शब्द समानार्थक हैं। मन के क्षणिक भाव को व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये संचरणशील व अस्थिर मनोविकार हैं जो विविध

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार से उत्पन्न व विलीन होकर स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। एक ही स्थायी भाव में परिस्थितिवश अनेक भावों का संचार होता रहता है। यथा–प्रेम स्थायीभाव के क्षेत्र में प्रिय मिलन पर हर्ष, वियोग से दुःख, उपेक्षा पर क्षोभ, अहित की आशंका पर चिंता आदि। ये क्षणिक होते हुए भी स्थायी भावों को रस-दशा तक पहुंचाने में विशेष उपकारक हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद आदि के रूप में इनकी संख्या ३३ बताई गई हैं।[११]

स्थायी भाव व्यक्ति के हृदय में आलम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर, उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ, अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है। जब काव्यगत स्थायीभाव की अनुभूति पाठक को होती है तो वही रसानुभूति या रसनिष्पत्ति कहलाती है।

मनोविज्ञान के इमोशन व सेंटीमेंट संचारी भाव व स्थायी भाव के ही पर्याय हैं। मनोविज्ञान के संवेग को साहित्य-शास्त्र के स्थायी भावों का पर्याय माना जा सकता है। संवेग ही मूल प्रवृत्तियों को उत्प्रेरित करते हैं–

क्रम	संवेग	मूल प्रवृत्तियां	स्थायीभाव	रस
१.	भय	पलायन, आत्मरक्षा	भय	भयानक
२.	क्रोध	युयुत्सा	क्रोध	रौद्र
३.	घृणा	निवृत्ति/वैराग्य	जुगुप्सा	बीभत्स
४.	करुणा	शरणागति	शोक	करुण
५.	काम	कामप्रवृत्ति	रति	शृंगार
६.	आश्चर्य	कौतूहल, जिज्ञासा	विस्मय	अद्भूत
७.	हास	आमोद	हास	हास्य
८.	दैन्य	आत्महीनता	निर्वेद	शांत
९.	आत्मगौरव/उत्साह	आत्माभिमान	उत्साह	वीर
१०.	वात्सल्य/स्नेह	पुत्रैषणा	वात्सल्य	वात्सल्य

स्थायी भाव नौ माने गए, जिनमें नौ रसों की निष्पत्ति मानी गई है। वात्सल्य व भक्ति को भी रस में परिगणित करने से इनकी संख्या ग्यारह हो जाती है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	रस	स्थायीभाव	संचारीभाव	विभाव	अनुभाव
१.	शृंगार	रति	जुगुप्सा, आलस्य आदि	ऋतु, माला, आभूषण आदि	मुस्कान, मधुरवचन, कटाक्ष आदि
२.	हास्य	हास	लज्जा, निद्रा, असूया आदि	विकृत-आकृति, वाणी, वेश आदि	स्मित, हास आदि
३.	करुण	शोक	निर्वेद, मोह, दीनता आदि	इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि	दैवोपलंभ, निःश्वास, स्वरभेद, आंसू आदि
४.	रौद्र	क्रोध	उग्रता, मद, चपलता आदि	असाधारण अपमान, कलह, विवाद आदि	नथुना फूलना, होठ-कनपटी फड़कना आदि
५.	वीर	उत्साह	गर्व,धृति, असूया, अमर्ष आदि	प्रतिनायक का अविनय, शौर्य, त्याग आदि	धैर्य, दानशीलता, वाग्दर्प आदि
६.	भयानक	भय	त्रास, चिंता, आवेग आदि	गुरू या राजा का अपराध, भयंकर रूपादि	कंपन, घबराहट, औष्ठशोष, कंठशोष
७.	बीभत्स	जुगुप्सा	अपस्मार, दैन्य, जड़ता आदि	घृणास्पद तथा अरुचिकर वस्तु का दर्शन आदि	अंग-संकोच, थूंकना, मुंह फेरना आदि
८.	अद्भुत	विस्मय	वितर्क, आवेग, औत्सुक्य आदि	दिव्यवस्तु का दर्शन, देवागमन, माया आदि	नेत्र विस्तार, अपलक दर्शन, भ्रूक्षेप, रोमांच आदि
९.	शांत	शम	धृति, हर्ष, निर्वेद आदि	वैराग्य, संसारभय, तत्त्व-ज्ञान आदि	यम-नियम पालन, अध्यात्म-शास्त्र का चिन्तन आदि
१०.	वत्सल	वात्सल्य	हर्ष, गर्व, उन्माद आदि	शिशु दर्शन आदि	स्नेहपूर्वक देखना, हंसना, गोद लेना आदि
११.	भक्ति	ईश्वर विषयक प्रेम	हर्ष, औत्सुक्य, निर्वेद, गर्व आदि	राम, कृष्ण, महावीर आदि	नेत्र विकास, गद् गद् वाणी, रोमांचादि

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिपालकृत 'संगीत सुधाकर' में ब्राह्म, संभोग तथा विप्रलंभ ये तीन नवीन रस मिलाकर तेरह रस माने गये हैं।[१२] ब्राह्म रस का स्थायी भाव आनंद माना। वह आनंद सांसारिक सभी प्रपंचों से रहित होने के कारण नित्य और स्थिर है।

रस-सिद्धान्त का महत्त्व

भरत के अनुसार नाटक का प्राण रस है। प्रत्येक व्यक्ति रस की अनुभूति करता है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार आत्मा परमात्मा के सत्, चित् और आनन्द गुणों से युक्त है। किन्तु जब जीव का आनन्द गुण तिरोहित होता है तब काव्य और कलाओं से उसे जागृत किया जाता है। रस-सिद्धान्त भी काव्य का लक्ष्य आनन्दानुभूति स्वीकार करता है।

अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा माया के आवरण के कारण जगत के रूपों में भेद का अनुभव करती है, जबकि सभी रूप परमसत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति से माया के आवरण को भूलकर हम विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है।

रस-सिद्धान्त जीवन के अच्छे-बुरे सभी पक्षों को काव्य में स्थान देने का पक्षपाती होने के कारण ही वह गांधी, बुद्ध, महावीर आदि की करुणा तथा साम्यवादियों की घृणा दोनों को काव्य में स्थान देने का सामर्थ्य रखता है।

देश, काल, परिस्थिति के अनुसार समीक्षा के मानदंड बदलते रहते हैं। किन्तु रस-सिद्धान्त ऐसा मानदंड है जो साहित्य को विभिन्न मतवादों के चक्कर से बचाता हुआ उसकी मूल आत्मा की सुरक्षा करता है।

आगम में रस विषयक अवधारणा

'आगमोनाम अत्तवयणं' आप्त वचन आगम होने से यह अध्यात्मपरक ग्रन्थ है और इनमें धर्म व मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है। अनुयोगद्वार में नौ रसों का सैद्धान्तिक वर्णन भी उपलब्ध है। स्थानांग टीकाकार के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाए वह रस है।[१३]

चूर्णिकार व वृत्तिकार हरिभद्र-सूरी का अभिमत है कि रस की भांति रसनीय चित्तवृत्तियां भी रस कहलाती हैं। जैसे– सुख वेदनीय और दुःख वेदनीय कर्मों के रस होते हैं वैसे ही काव्य के रस होते हैं।[१४]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार में नौ रसों की परम्परा स्वीकृत है– वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, ब्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त। इसमें क्रम-व्यत्यय के साथ-साथ मान्यता में भी कुछ अन्तर है। काव्य के नौ रसों में भयानक रस है। अनुयोगद्वार में भयानक रस नहीं है। वृत्तिकार ने भयानक रस का अन्तर्भाव रौद्र रस में मानकर अलग ग्रहण न करने की बात कही है।

अनुयोगद्वार में नौ रसों के क्रम में भयानक के स्थान पर ब्रीड़नक (लज्जा) रस का उल्लेख हैं। काव्यशास्त्र के किसी भी ग्रंथ में लज्जा रस का उल्लेख नहीं है। अनुयोगद्वार में किस आधार पर लज्जा रस का उल्लेख किया गया है, यह विचारणीय है। अनुयोगद्वार में निर्दिष्ट रस-सामग्री इस प्रकार है[१५]–

क्रम	रस	उत्पत्ति	लक्षण
१.	वीर	परित्याग, तपश्चरण, शत्रुविनाश आदि	अपश्चात्ताप, धैर्य, पराक्रम
२.	शृंगार	रति, संयोग की अभिलाषा आदि	विभूषा, विलास, कामचेष्टा, हास्य, लीला रमण आदि
३.	अद्भुत	अपूर्व और अनुभूतपूर्व वस्तु आदि	हर्ष और विषाद
४.	रौद्र	भयंकर रूप आदि, अंधकार, चिन्ता भयंकर कथा आदि	सम्मोह, संभ्रम, विषाद और मरण
५.	ब्रीड़नक	गुह्य और गुरुस्त्री की मर्यादा का अतिक्रमण आदि	लज्जा, शंका
६.	बीभत्स	अशुचि पदार्थ, शव, अनिष्ट द्रव्य, दुर्गन्ध आदि	निर्वेद और जीव हिंसा के प्रति होने वाली घृणा
७.	हास्य	रूप, वय, वेश और भाषा का विपर्यय	मुख, नेत्र का विकास
८.	करुण	प्रिय-वियोग, वध, बंध, विनिपात, व्याधि, संभ्रम आदि	शोक, विलाप, म्लान, रोदन
९.	शांत	एकाग्रता और प्रशांत भाव	अविकार

उत्तराध्ययन में रस-सामग्री

आगम का प्रत्येक पद, वाक्य औचित्य से परिपूर्ण है। अनुचित, अप्रासंगिक प्रयोग को अवसर ही नहीं मिला है। अपनी मेधा द्वारा सत्य का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षात्कार कर शब्दों को अभिव्यक्ति दी है। जीवन से जुड़ी विविध आनन्दानुभूतियां काव्य की भाषा में रस हैं। साहित्य में मान्य रसों के अनुरूप उत्तराध्ययन का रस-विश्लेषण यहां इष्ट है।

शृंगार-रस

भावों में जो उत्तम है, श्रेष्ठ है, उसे शृंग कहते हैं और जो सहृदय को उस दशा तक पहुंचा दे वह शृंगार है। साहित्य जगत में सर्वप्रथम आचार्य भरत ने शृंगार-रस को रति-स्थायी भाव से उद्भूत माना। शृंगार ही विश्व के समस्त शुचि, मेध्य, उज्जवल और दर्शनीय पदार्थों का उपमान हो सकता है। इसका वेश उज्जवल है।

भोज का शृंगार स्त्री-पुरुषों का वासनात्मक प्रेम नहीं है, वह आत्मस्थित गुण विशेष है, रस्यमान होने के कारण रस है। भोज ने शृंगार रस के सम्बन्ध में यह एक बिल्कुल नवीन दृष्टि दी है, फलस्वरूप उन्होंने शृंगार रस को एक व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। यह दृष्टि मूल रूप से तो सरस्वतीकण्ठाभरण में मिलती है, इस पर विस्तार से विवेचन शृंगार प्रकाश में उपलब्ध होता है। काव्य कमनीय तभी होता है, जब उसमें रस रहता है। कमनीयता के उस मूल तत्त्व को चाहे रस कहें, चाहे अभिमान कहें, अहंकार कहें या शृंगार कहें, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह शृंगार दृष्टि न जाने कितने जन्मों के पुण्यकर्मों और अनुभवों से प्राणी को सुलभ हो पाती है। यही वह अंकुर है जिससे आत्मा के सभी श्रेष्ठ गुण उद्भूत होते हैं। जिसके पास यह होती है - जो शृंगारी होता है, उसके लिए समस्त जगत रसमय हो जाता है। यदि वह अशृंगारी हुआ तो सब कुछ नीरस ही रहता है।[१६]

उत्तराध्ययन में क्वचित् शृंगार-रस का भी वर्णन मिलता है –

तस्स रूववइं भज्जं पिया आणेइ रूविणिं।
पासाए कीलए रम्मे देवो दोगुंदओ जहा ॥ उत्तर. २१/७

उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भांति उसके साथ सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

संयोग शृंगार के वर्णन में यहां रति स्थायी भाव है। रूपिणी का सौन्दर्य आलम्बन विभाव है। क्रीड़ा, भोग-सामग्री आदि उद्दीपन विभाव है। हर्ष, रोमांच आदि संचारी भावों से यहां संयोग-शृंगार-रस की निष्पत्ति हुई है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजीमती का अरिष्टनेमि के प्रति और रथनेमि का राजीमती के प्रति आकर्षण - ये दोनों उदाहरण अपुष्ट शृंगार या शृंगाराभास कहे जा सकते हैं। क्योंकि जिसमें आकर्षण होता है लेकिन भोग की प्राप्ति नहीं होती वह केवल आभास मात्र रह जाता है, रस दशा को प्राप्त नहीं होता।

रसाभास के ऐसे प्रसंग भी उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं।

हास्य-रस

विकृत आकार, चेष्टा, वेश, वाणी आदि से हास्य-रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायीभाव हास है।[१७]

जीवन के प्रति गम्भीर एवं मर्यादित दृष्टिकोण तथा धर्मप्रधान श्रमण-काव्य होने से उत्तराध्ययन में हास्य-रस का प्रयोग नहीं हुआ है।

करूण-रस

इष्ट नाश व अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला रस करुण-रस है- 'इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम्।'[१८]

भोज के अनुसार जो रस मूर्च्छा को उत्पन्न करता है, विलाप को उत्पन्न करता है और चित्त में दुःख उत्पन्न करता है, वह करुण रस कहलाता है।

मूर्च्छाविलापौ कुरुते कुरुते साहसे मनः।
करोति दुःखं चित्तेन योऽसौ करुण उच्यते॥[१९]

भरत के अनुसार यह शाप और क्लेश में पड़े प्रियजन के वियोग, धननाश, वध, बंध, देश-निर्वासन, अग्नि में जलकर मरने या व्यसन में फंसने आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[२०]

अनुयोगद्वार के अनुसार प्रिय के विप्रयोग, बंध, वध, व्याधि, विनिपात-पुत्र आदि की मृत्यु और संभ्रम से करुणा-रस उत्पन्न होता है। शोक, विलाप, म्लानता और रुदन इसके लक्षण हैं।

उत्तराध्ययन में करुण-रस

उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति के साथ विवाह के लिए प्रस्थित अरिष्टनेमि ने भय से संत्रस्त प्राणियों को देखा। सारथि से पूछा ये प्राणी पिंजरों में क्यों रोके हुए हैं? सारथी ने कहा आपके विवाह कार्य में लोगों के भोज के लिए यहां रोके हुए हैं। जीव-वध-प्रतिपादक वचन सुनकर उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा। सकरुण महाप्रज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई॥ उत्तर . २२/१९

यदि मेरे निमित्त इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।

कवि ने यहां अरिष्टनेमि के अंत:करण में स्थित करुणापूर्ण दशा का मार्मिक शब्दो में वर्णन किया है। प्राणी-वध प्रतिपादक वचन यहां आलम्बन विभाव है। जीवों के प्रति करुणा, आत्मा का कर्मों से भारी होना आदि उद्दीपन विभाव हैं। विवाह से वापस मुड़ना, अभिनिष्क्रमण करना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, आत्मग्लानि आदि संचारी भावों से पुष्ट अरिष्टनेमि के हृदय में शोक स्थायी भाव है।

प्राणियों का क्रन्दन अरिष्टनेमि के चित्त में दु:ख उत्पन्न करता है, इसलिए यहां करुण-रस निष्पन्न हुआ है। प्राणनाथ अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुनकर राजकन्या राजीमती अपनी हंसी-खुशी, आनन्द सब कुछ खो बैठती है। वह शोक से स्तब्ध हो गई –

सोऊण रायकन्ना पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
निहासा य निराणंदा सोगेण उ समुत्थया॥ उत्तर. २२/२८

यहां करुणाभास का सुंदर चित्रण हुआ है।

रौद्र-रस

शत्रु कृत अपकार, मानभंग, गुरुजनों की निंदा, शत्रु की चेष्टा आदि से रौद्र-रस की उत्पत्ति होती है। यह संग्रामहेतुक क्रोध रूप स्थायी भाव वाला है। यह राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्यों के आश्रित होता है। औद्धत्य, अश्लील वाक्य, कलह, विवाद एवं प्रतिकूल भावों या विरोध के कारण क्रोध उत्पन्न होता है।[२१]

अनुयोगद्वार में रौद्र-रस का लक्षण बताते हुए कहा— भयंकर रूप, शब्द, अंधकार, चिन्ता और व्यथा से रौद्र-रस उत्पन्न होता है। सम्मोह, संभ्रम, विवाद और मरण इसके लक्षण हैं।[२२]

भयजणणरूव-सद्दंधकारचिंता कहासमुप्पन्नो।
संमोह-संभम-विसाय-मरणलिंगो रसो रोद्दो॥

उत्तराध्ययन में अत्यल्प मात्रा में रौद्र-रस का निर्दशन मिलता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवहेडियपिट्ठसउत्तमंगे पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते॥ उत्तर . १२/२९

उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएं फैल गई। वे निष्क्रिय हो गये। उनकी आंखें खुली की खुली रह गई। उनके मुंह से रुधिर निकलने लगा। मुंह ऊपर को हो गये। उनकी जिह्वा और नेत्र बाहर निकल आए।

उक्त प्रसंग में भिक्षा के लिए आए हुए हरिकेशी ऋषि को कुमार पीटने लगे – यह देखकर भद्रा ने कहा इनकी अवहेलना मत करो। कहीं ये अपने तेज से तुम लोगों को भस्मसात् न कर डाले। भद्रा के वचन सुनकर यक्ष ने ऋषि की परिचर्या करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया तथा आकाश मे स्थिर होकर उनको मारने लगे। यक्ष के रौद्र रूप के कारण कुमारों की दयनीय स्थिति बनी। इसलिए यहां रौद्र-रस की उपचिति हुई है।

यहां अपमान से रौद्र-रस का स्थायी भाव क्रोध उत्पन्न हुआ है। कुमार रौद्र-रस के आलम्बन विभाव हैं। डण्डों, चाबुकों से ऋषि को पीटना उद्दीपन विभाव हैं। भुजाएं फैलाना, निष्क्रिय होना, मुंह से रुधिर निकलना, जीभ का बाहर आ जाना आदि अनुभाव हैं। उद्वेग, आवेग आदि संचारी भावों से पोषित 'क्रोध' रौद्र-रस दशा को प्राप्त है।

वीररस

साहित्य शास्त्र का प्रमुख रस वीररस है। भरत के अनुसार वीररस का स्थायी भाव उत्तम प्रकृति का उत्साह है– **अथ वीरो नामोत्तम-प्रकृतिरूत्साहात्मकः।**[२३] इसका आश्रय उत्तम पात्र में होता है।

अनुयोगद्वार के अनुसार परित्याग, दान, तपश्चरण और शत्रु जनों के विनाश में वीररस उत्पन्न होता है। अननुशय, गर्व या पश्चात्ताप न करना, धृति और पराक्रम वीररस के लक्षण हैं।[२४]

भरतमुनि ने वीररस के युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर–ये तीन भेद माने हैं। विश्वनाथ ने दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर के रूप में चार प्रकार का वीररस स्वीकार किया हैं।

अनुयोगद्वार में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया गया–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो णाम महावीरो जो रज्जं पयहिऊण पव्वइओ।
कामक्कोहमहासत्तुपक्खनिग्घायणं कुणइ।।[२५]

अर्थात् राज्य वैभव का परित्याग करके जो दीक्षित हुआ और दीक्षित होकर कामक्रोध आदि महाशत्रु पक्ष का परित्याग किया वही निश्चय से महावीर है।

यहां राज्य-श्री त्याग, अंतरंग शत्रुओं पर विजय रूप वीररस का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। संयम के प्रति बढ़ता हुआ उत्साह स्थायी भाव है। प्रबल संकल्प आलम्बन विभाव है। धृति आदि उद्दीपन विभाव है। त्याग, संयम-ग्रहण आदि अनुभावों से वीररस की अभिव्यक्ति हुई है।

केवल बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही वीररस नहीं है, अपितु कषाय-शत्रुओं पर विजय, महद् ऐश्वर्य का त्याग आदि भी वीर रस है। आगमिक दृष्टि से त्यागवीर, तपवीर और युद्धवीर –ये तीन भेद वीररस के मान सकते हैं। आचार्य भरत के दानवीर को त्यागवीर एवं धर्मवीर को तपवीर कह सकते हैं। वीररस के चारों भेद त्यागवीर, तपवीर, युद्धवीर में अनुस्यूत हो सकते हैं। क्योंकि दान और दया दोनों में त्याग और निरहंकार आवश्यक है, अतः उन्हें अनुयोगद्वार की भाषा में त्यागवीर कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से वीररस के त्यागवीर, तपवीर और युद्धवीर तीन भेद परिलक्षित होते हैं। उत्तराध्ययन में इन तीनों रूपों की उपलब्धि है।

त्यागवीर

त्याग का अर्थ है छोड़ना। जो प्रिय से प्रिय वस्तु के परित्याग में उत्साहवान रहता है वह त्यागवीर की कोटि में आता है। उत्तराध्ययन में अनेक वीर-नायकों का विवरण प्राप्त है, जिन्होंने भौतिक समृद्धि से परिपूर्ण संसार का त्याग कर के संयम जीवन स्वीकार कर परम वीरता दिखाई है। उनमें भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थु नरेश्वर, अर, महापद्म, हरिषेण, जय आदि चक्रवर्ती तथा दशार्णभद्र, विदेह के अधिपति नमि, करकण्डु, द्विमुख, नग्गति, उद्रायण, श्वेत, विजय, महाबल आदि राजाओं का मोक्ष प्राप्ति के लिए संसार-त्याग प्रशंसनीय है (उत्तर. १८/३४-५०)।

इनमें दस चक्रवर्ती और नौ मांडलिक नृप हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी नराहिओ।
चइत्ता उत्तमे भोए महापउमे तवं चरे॥ उत्तर. १८/४१

विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोड़कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया।

इस प्रसंग में संसार-त्याग के प्रति प्रवर्धमान उत्साह स्थायी भाव है। संसार-समुद्र को तैरकर श्रेष्ठत्व की प्राप्ति की इच्छा आलम्बन विभाव है। सात्विक अध्यवसाय उद्दीपन विभाव है। संसार-परित्याग, लक्ष्य में स्थिर चैतसिक व्यापार आदि अनुभाव हैं। रोमांच, हर्ष, धृति आदि संचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से त्यागवीर-रस की अभिव्यक्ति हुई है।

'मृगापुत्रीय अध्ययन में संयत श्रमण को देख जातिस्मरण होने से महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म तथा पूर्वकृत श्रामण्य की स्मृति हो आई। स्मृति के कारण वह भोगों में अनासक्त और संयम में अनुरक्त बना।

फिर ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की तरह झटकाकर वह प्रव्रजित हो गया -

इड्ढिं वित्तं च मित्ते य पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ॥ उत्तर. १९/८७

यहां मृगापुत्र के मन में संयम-प्राप्ति का उत्साह संयत श्रमण को देखने के बाद निरन्तर संवर्धित हो रहा है। यही उत्साह स्थायी भाव है।

मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा आलम्बन विभाव है। मुनि को देख प्रतिबोध, जातिस्मरण आदि उद्दीपन विभाव हैं। ऋद्धि का त्याग अनुभाव हैं। संयम में पराक्रम, धृति, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इन सबके योग से त्याग सम्बन्धी वीर रस की निष्पत्ति हुई है।

तपवीर

भारतीय संस्कृति का मूल तप है। तप से मनुष्य अचिन्त्य शक्ति-संपन्न बन जाता है। योग वासिष्ठकार ने कहा—विश्व में दुष्प्राप्य वस्तु तप के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

आगमों में तप-वीर के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'उवासगदसाओ'

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में गाथापति आनंद की तपश्चर्या, 'आयारो' में उपधानश्रुत में प्रभु महावीर का तप वर्णन तपवीर-रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

'क्रोध, मान आदि को पराजित कर मिथिला नरेश नमि ने संसार के समक्ष तपवीर का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्वयं देवेन्द्र स्तुति करते हुए कहता है –

अहो ! ते अज्जवं साहु अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खंती अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥ उत्तर. ९/५७

अहो ! उत्तम है तुम्हारा आर्जव। अहो ! उत्तम है तुम्हारा मार्दव। अहो! उत्तम है तुम्हारी क्षमा। अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता ।

आगम गाथा है–

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।[२६]

उपशम से क्रोध को, मार्दव/कोमलता से मान को, आर्जव/सरलता से माया को तथा संतोष से लोभ को जीतना चाहिए।

पुनर्भव के मूल का सिंचन करने वाले इन चार कषायों को सहिष्णुता, मार्दवता, आर्जवता, और निर्लोभता से जीतकर नमि राजर्षि ने इस आगम-वाक्य को चरितार्थ किया है।

यहां आंतरिक विशुद्धि रूप उत्साह स्थायी भाव है। कर्ममुक्ति की अभीप्सा आलम्बन विभाव है। तितिक्षा, ऋजुता, अनासक्तता आदि उद्दीपन विभाव हैं। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रूप अनुभाव तथा धैर्य, हर्ष आदि संचारी भावों से युक्त तप-वीर-रस का प्रभाव न केवल तपी पर अपितु पूरे वातावरण पर परिलक्षित हो रहा है।

'दृढ़ संकल्प शक्ति के साथ गृहीत, प्रमादरहित तप के अनुष्ठान से होने वाले आनन्द की अनुभूति तप-वीर-रस को निष्पादित करती है। हरिकेशी मुनि की तपस्या प्रखर संकल्प द्वारा गृहीत तथा अपवर्ग की ओर ले जाने वाली है। तप से वे कृश हो गये थे –

'तवेण परिसोसियं।' उत्तर. १२/४

शारीरिक सुखों का परित्याग कर तप के क्षेत्र में उन्होंने आदर्श

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत किया। भोजन-प्राप्ति के लिए यज्ञ-मंडप में गये हुए स्वयं हरिकेशी मुनि कहते है –

'सेसावसेसं लभऊ तवस्सी' उत्तर. १२/१०

इस तपस्वी को कुछ बचा भोजन मिल जाए। इससे भी उनके तपस्वी जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

पुरोहित पत्नी भद्रा भी उग्र तपस्वी के रूप में इनको पहचानती है -

'एसो हु सो उग्गतवो महप्पा।' उत्तर. १२/२२

एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लेते ही देवों द्वारा पुष्प और दिव्य धन-वर्षा, आकाश में दुन्दुभि बजाना तथा 'अहोदानम्' के घोष से ग्रन्थकार ने हरिकेशी मुनि की प्रत्यक्ष तप-महिमा का वर्णन किया है। कितना महान् तप था उनका ..... ।

प्रस्तुत प्रसंग में तप में पराक्रम रूप उत्साह स्थायीभाव है। आठ-कर्म-ग्रन्थिओं से मुक्ति, निर्जरा की अभीप्सा आदि आलंबन विभाव हैं। तप का अचिन्त्य प्रभाव उद्दीपन विभाव है। शरीर कृश होना अनुभाव है। निर्वेद, श्रम,धृति, हर्ष आदि संचारी भावों से तप-वीर-रस निष्पन्न हुआ है।

इस प्रसंग में मुनि की शरीर के प्रति निर्ममत्व भावना तथा आत्मा के प्रति निज्जरट्ठयाए की भावना परिलक्षित हो रही है।

'रहनेमिज्जं अध्ययन में मरणासन्न दशा को प्राप्त निरपराध प्राणियों को देखकर अरिष्टनेमि ने कुंडल, करधनी तथा सारे आभूषण उतार दिए और सुगन्ध से सुवासित घुंघराले बालों का पंचमुष्टि से शीघ्र लोच किया–यहां अरिष्टनेमि का तप-वीर-रस मुखर हुआ है।

यहां स्थायी भाव उत्साह नित्य वर्धमान है। जीव-वध प्रतिपादक वचन आलम्बन विभाव है। कुंडल, आभूषण आदि उतारना उद्दीपन विभाव हैं। संयम, तप आदि अनुभावों तथा धृति, हर्ष आदि संचारी भावों से पुष्ट होकर तप-वीर-रस की स्थिति निर्मित हुई है।

पार्श्वापत्यीय श्रमण केशी द्वारा महावीर के शिष्य गौतम से प्रश्न किया गया–शत्रु कौन कहलाता है? तुमने उसे कैसे पराजित किया ? गौतम

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उत्तर में आंतरिक शत्रुओं पर विजय स्वरूप वीर-रस प्रस्फुटित हुआ है। गौतम ने कहा –

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी!॥ उत्तर. २३/३८

एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है। कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। मुने ! मैं उन्हें यथाज्ञात उपाय से जीतकर विहार कर रहा हूं।

गौतम के मन में आंतरिक शत्रुओं पर विजयप्राप्ति का उत्साह सतत प्रवर्धमान है। यह उत्साह ही स्थायीभाव है। 'कषायमुक्ति किलमुक्तिरेव' कषायमुक्ति बिना मुक्ति संभव नहीं। मुक्ति की तीव्र अभीप्सा आलम्बन विभाव है। आत्मा, मन, इन्द्रियां, कषाय चतुष्क–इन पर नियंत्रण उद्दीपन विभाव हैं। शत्रुओं पर विजय अनुभाव है। शौर्य, हर्ष आदि संचारी भावों से आत्मिक विजय सम्बन्धी तपवीर-रस की निष्पत्ति हुई है।

युद्धवीर

युद्धवीर विकट युद्ध में शत्रु-पक्ष पर विजय प्राप्त करने का प्रबल संकल्प व उत्कृष्ट उत्साह से युक्त होता है।

उत्तराध्ययन में बाह्य शत्रुओं पर चढ़ाई का प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ है। किन्तु युद्ध आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। यथा–संगामे (९/३४), जुज्झाहि (९/३५), सव्वसत्तू (२३/३६) आदि।

भयानक-रस

भयानक रस का स्थायीभाव भय है। भयानक दृश्य को देखने तथा बलवान् व्यक्तियों के द्वारा अपराध करने से भयानक-रस की उत्पत्ति होती है।

भय स्थायीभाव जब विभाव आदि से पुष्ट होकर अनुभूति का विषय बनता है तो भयानक-रस होता है।

उत्तराध्ययन में मृगापुत्र के द्वारा पहले किए हुए पापकर्मों के भोग का वर्णन भयोत्पादक होने से भयानक-रस की सृष्टि कर रहा है –

अइतिक्खकंटगाइण्णे तुंगे सिंबलिपायवे।
खेवियं पासबद्धेणं कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं॥

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाजंतेसु उच्छू वा आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं पावकम्मो अणंतसो ॥ उत्तर. १९/५२,५३

अत्यन्त तीखे काँटो वाले ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बाँध, इधर-उधर खींचकर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ। पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मो द्वारा महायंत्रों में ऊख की भांति अनंत बार पेरा गया हूँ।

यहाँ भयंकर वर्णन से उत्पन्न भय स्थायीभाव है। स्वयंकृत पापकर्म आलम्बन विभाव है। असह्य वेदना से खिन्नता उद्दीपन विभाव है। पाश से बंधना, ऊख की तरह पेरा जाना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि आदि संचारी भावों से पुष्ट भयानक-रस सुननेवालों का हृदय कंपित कर देता है तथा मोक्ष के इच्छुक प्राणियों के लिए पापकर्म से भय का संचार करने वाला है।

बीभत्स-रस

घृणित या घृणोत्पादक पदार्थों के दर्शन या श्रवण से बीभत्स-रस उत्पन्न होता है। जुगुप्सा इसका स्थायी-भाव है। यह अह्रद्य, अपवित्र, अप्रिय एवं अनिष्ट के दर्शन, श्रवण और परिकीर्तन आदि विभावों से उत्पन होता है। अंग सिकोड़ना, मुख संकुचित करना, थूकना, शरीर के अंगों को हिलाना आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय होता है। अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि, मरण आदि इसके संचारी भाव हैं।

अनुयोगद्वार के अनुसार अशुचि पदार्थ, शव, बार-बार अनिष्ट दृश्य के संयोग और दुर्गन्ध से बीभत्स-रस उत्पन्न होता है। निर्वेद-अरूचि या उदासीनता और जीव-हिंसा के प्रति होने वाली ग्लानि उसके लक्षण हैं।[२७]

'मृगापुत्रीय अध्ययन में वर्णित नरक की वेदनाओं का वर्णन बीभत्स-रस को उत्पन्न करने वाला है –

तत्ताइं तंबलोहाइं तउयाइं सीसयाणि य।
पाइयो कलकलंताइं आरसंतो सुभेरवं॥
तुहं पियाइं मंसाइं खंडाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं अग्गिवण्णाइं णेगसो॥ उत्तर. १९/६८,६९

भयंकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कल-कल करता हुआ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया। तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था--यह याद दिलाकर मेरे अंग का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

यहाँ परमाधामी देवकृत वेदना आलम्बन विभाव है। गर्म तांबा, लोहा आदि तथा कलकल शब्द उद्दीपन विभाव हैं। मानसिक घृणा रूप स्थायीभाव गर्म लोहा आदि पीना और मांस खाना आदि अनुभावों से कार्य रूप में परिणत होकर ग्लानि, निर्वेद आदि संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ बीभत्सता को भी बीभत्स बना रहा है।

उत्तराध्ययन में राजीमती के सामने उपस्थित रथनेमि भोगों की याचना करता हुआ बीभत्स-रस का मार्मिक प्रसंग उपस्थित करता है।

राजीमती अर्हत् अरिष्टनेमि को वंदना के लिए रैवतक पर्वत पर जा रही थी। मार्ग में बारिश से भीग जाने से एक गुफा में जाकर वह वस्त्र सुखा रही थी उसी समय गुफा में पहले से ही विद्यमान रथनेमि राजीमती को यथाजात अवस्था में देखता है और कामासक्त होकर भोगों की याचना करता है। तब राजीमती का हृदय घृणा से भर जाता है। घृणा प्रकट करते हुए तथा भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हुए राजीमती ने कठोर शब्दों में कहा--

धिरत्थु ते जसोकामी! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे।। उत्तर. २२/४२

हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना ही श्रेय है।

यहां रथनेमि बीभत्स-रस का आलम्बन विभाव है। राजीमती के हृदय में स्थित 'जुगुप्सा' रूप स्थायीभाव उसके द्वारा रथनेमि को धिक्कारना, वमन को पीने जैसी स्थिति आदि से उत्पन्न नाक सिकोड़ना आदि अनुभावों से कार्य रूप में परिणत हुआ है तथा ग्लानि, उद्वेग आदि संचारिकों से परिपुष्ट हो बीभत्स-रस निष्पन्न हुआ है।

अद्भुत-रस

आश्चर्यजनक पदार्थों को देखने से अद्भुत-रस उत्पन्न होता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी उत्पत्ति दिव्य-दर्शन, अभीष्ट-प्राप्ति, लोकोत्तर वस्तु या घटना के कारण भी होती है। यह विस्मय स्थायीभाव वाला रस है।[२८]

उत्तराध्ययन में बहुत सीमित रूप में अद्भुत-रस की संयोजना हुई है। यथा –

तहियं गंधोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य दुट्ठा।
पहयाओ दुंदुहीओ सुरेहिं, आगासे अहोदाणं च घुट्ठं।।

उत्तर. १२/३६

देवों ने वहां सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहोदानम्' (आश्चर्यकारी दान) इस प्रकार का घोष किया।

यहां देवों द्वारा दिव्य धन की वर्षा और 'अहोदानम्' के घोष द्वारा हरिकेशी मुनि की तप-महिमा का साक्षात् दर्शन ब्राह्मणों के लिए विस्मय/आश्चर्य उत्पन्न कर देता है।

शान्त-रस

अनुयोगद्वार में प्रशांत रस का लक्षण बताते हुए कहा गया–

निद्दोसमणसमाहाणसंभवो जो पसंतभावेणं।
अविकारलक्खणो सो रसो पसंतो त्ति नायव्वो।।[२९]

स्वस्थ मन की समाधि और प्रशान्त भाव से शान्तरस उत्पन्न होता है। अविकार उसका लक्षण है।

नाट्यशास्त्र में शान्त-रस का विवेचन है। शान्तरस का स्थायीभाव शम है। तत्त्वज्ञान के उदय से जागतिक विषयों के प्रति निर्वेद इसका आधार है। भरत के अनुसार शम स्थायीभाव वाला, मोक्ष का प्रवर्त्तक शान्त-रस है। यह तत्त्वज्ञानजनक विषय, वैराग्य, आश्रयशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

उत्तराध्ययन में शांत-रस की प्रधानता है। संसार से निर्वेद दिखाकर अथवा तत्त्वज्ञान आदि के द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष प्रकट कर शांत-रस की प्रतीति करायी गयी है।

कपिल मुनि द्वारा बलभद्र आदि चोरों को दिए गए उपदेश में शान्त-रस का निदर्शन है –

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा॥

उत्तर. ८/१

अर्थात् अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल संसार में ऐसा कौन सा कर्म–अनुष्ठान है, जिससे में दुर्गति में न जाऊं ?

यहां तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायीभाव है। संसार की अनित्यता, दुःख बहुलता आलम्बन विभाव हैं। कपिलमुनि का उपदेश उद्दीपन विभाव है। अध्यात्म-ज्ञान, कर्मों की भयंकरता का दर्शन आदि अनुभाव हैं। इनसे निष्पन्न शम रूप स्थायीभाव शान्त-रस की सृष्टि कर रहा है।

समणो अहं संजओ बंभयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि॥

उत्तर. १२/९

मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, ब्रह्मचारी हूं, धन, पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूं। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहां आया हूं।

हरिकेशी की तपःसाधना का यह मर्मस्पर्शी चित्रण, परिकर-अलंकार का योग पाकर शान्त-रस की सुषमा को बढ़ा रहा है।

चित्त में स्थित निर्वेद स्थायीभाव है। तत्त्वज्ञान आलम्बन विभाव है। तप-निष्ठा, श्रमनिष्ठा, अपरिग्रहवृत्ति आदि अनुभाव हैं। धृति, शौच आदि संचारिकों की सहायता से शान्त-रस आकार ले रहा है।

'हरिकेशी मुनि स्वयं शांत-रस की प्रतिमूर्ति ही प्रतीत होते हैं। आगमों में कहा गया कि मुनि पीटे जाने पर भी क्रोध न करे, मन में भी द्वेष न लाये। चाण्डालपुत्र मुनि हरिकेशी कुमारों द्वारा डंडों एवं चाबुकों से पीटे गये। सेवा में लगे हुए यक्ष ने कुमारों को भूमि पर गिरा दिया। यह देखकर सोमदेव ने मुनि को कहा– ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते। मुनि ने जो उत्तर दिया, लगता है संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए उनका अंतःकरण हर क्षण शान्तरस से सरोबार था–

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च।, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ॥
जक्खा हु वेयावडियं करेंति, तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

उत्तर. १२/३२

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किंतु यक्ष मेरा वैयावृत्य कर रहे हैं, इसलिए ये कुमार प्रताड़ित हुए।'

यहां 'वासीचंदणकप्पो य' यह आगमवाक्य हरिकेशी पर पूर्णतः घटित हो रहा है। समता का परिपाक हो जाने पर चित्त विषयों की आसक्ति से शून्य हो जाता है। इस शून्यता से योग विशद/निर्मल बन जाते हैं जिससे वासीचंदन-तुल्यता की स्थिति निर्मित होती है। मुनि के योगों की निर्मलता से शांत-रस प्रतिक्षण सहचारी बना रहा। मुनि हरिकेशी का शान्त अंतःकरण प्रतिबिम्बित हो रहा है। संयम प्रधान शम यहां स्थायीभाव है। सहज संयमचेतना, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि आलम्बन विभाव हैं। कषाय का उपशमन उद्दीपन विभाव है। ओज, तेज, सौम्य, शांत मुख-मुद्रा आदि अनुभाव हैं। हर्ष, द्युति, निर्वेद आदि संचारीभाव हैं। इन सबका संयोग यहां शांत-रस का सृजन कर रहा है।

भृगु पुरोहित का पूरा परिवार दीक्षित हो गया—यह बात सुनकर परम्परा के अनुसार राजा इषुकार ने सम्पूर्ण संपत्ति पर अधिकार करना चाहा। उस समय रानी कमलावती ने राजा को संसार की क्षण-भंगुरता का उपदेश दिया, वहां शान्त-रस की सरिता प्रवाहित करने में तन्मय होकर कमलावती कहती है —

मरिहिसि रायं! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

उत्तर. १४/४०

राजन! इन मनोरम कामभोगों को छोड़कर जब कभी मरना होगा। हे नरदेव! एक धर्म ही त्राण है। उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नहीं दे सकती।

रानी के उपदेश से राजा का सोया हुआ पौरूष जाग उठा। हृदय संवेग/विराग से भर गया। दोनों प्रव्रजित हो गये। दुःख का अंत करके मरण-भय को समाप्त कर दिया।

शान्त-रस का धर्म-भावना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहां शान्तरस की सुरभि फैलाने में कमलावती आलम्बन विभाव है। संसार की असारता, अशरणता का उपदेश उद्दीपन विभाव हैं। अत्राणता का अनुभव करना, संयम स्वीकारना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष आदि संचारी भावों से पुष्ट 'शम' स्थायी भाव के कारण राजा-रानी शाश्वत शांत-रस में प्रतिष्ठित हो गये।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' जो जन्मता है, वह अवश्य ही मरता है तथा 'मरणसमं नत्थि भयं'– मरण के समान दूसरा कोई भय नहीं है। धर्म इस भय से त्राण दे सकता है–इन शाश्वत सत्यों का उद्‌घाटन कर एक स्त्री ने भारतीय मनीषा की गरिमा को और अधिक बढ़ाया है।

उत्तराध्ययन में 'निसन्ते' (१/८) शब्द का प्रयोग भी शान्त-रस के लिए हुआ है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन में प्रायः सभी रसों का विनियोजन आगमकार ने किया है। भावों की आधारशिला पर ही रस का भव्य राजप्रासाद अधिष्ठित है। शान्त-रस, वीर-रस की प्रमुखता है। अन्य रस गौणरूप में प्रयुक्त हैं। कुछ प्रसंगों में रसाभास के उदाहरण भी प्राप्त हैं।

छंद

लय, स्वर तथा मात्राओं के उचित सन्निवेश से युक्त शाब्दिक अभिव्यक्ति छंद है। जैसे शब्दनियमन व्याकरणशास्त्र से, वाक्यनियमन साहित्यशास्त्र से किया जाता है, वैसे ही अक्षरनियमन छंदशास्त्र से किया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, इसलिए छंदशास्त्र का उदय भारतवर्ष में मानना चाहिए। नारायण शास्त्री खिस्ते के मतानुसार छन्दशास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीन ग्रंथ पिङ्गल का छंदसूत्र है,[३०] जिसमें वैदिक और लौकिक छंदों का निरूपण कर मात्रा, गण, यति, गुरु, लघु आदि विषयों का अच्छा विवेचन प्राप्त है।

जीवन-चेतना जब विश्वचेतना बनकर सर्वांगीण स्वरूप को प्राप्त करती है तब छंदोमयी वाणी निःसृत होती है। इस वाणी से साहित्य मनोरंजक, आह्लादक बनता है। अलंकार बाह्य आकर्षण का वाचक है। पर छंद आन्तरिक प्रसन्नता उत्पन्न करता है। छंदबद्ध उपदेश अधिक प्रभावक होने से छंद उपदेश-परम्परा का उपकारक है।

भारतीय साहित्य में छंद शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में प्रलोभन, प्रसन्नता, आमंत्रण अर्थों में[३१], प्रार्थना के वाचक रूप में निघण्टु में[३२], पाणिनि में वेद[३३] तथा षडङ्गों में एक अंग-छंदः पादौ तु वेदस्य[३४], इच्छा एवं कल्पना के अर्थ में चाणक्यनीतिदर्पण में[३५] वृत्त एवं पद्य के अर्थ में अमरकोष[३६] आदि में छंद शब्द का नियोजन हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'चन्दयति आह्लादयति इति छन्दः'[३७] जो पाठकों को प्रसन्न करता है, आनन्द देता है वही छन्द है। यह मात्रिक एवं वर्णिक के भेद से दो प्रकार का हैं।[३८] छन्दशास्त्र में प्रायः मात्रिक छन्दों के लिए छन्द या जाति तथा वर्णिक छन्दों के लिए वृत्त का प्रयोग है। अक्षरों की गणना को वर्णिक एवं मात्राओं की गणना को मात्रिक छन्द कहते हैं।

वर्णिक गण आठ हैं—म, न, भ, य, ज, र, स और तगण। आठों गणों का लघु-गुरु विधान इस प्रकार है—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥[३९]

जिसमें तीन गुरु हो वह मगण (SSS), तीन लघु हो वह नगण (III), आदि गुरू और शेष दो लघु हो वह भगण (SII), आदि लघु तथा दो गुरू हो वह यगण (ISS), मध्य में गुरू और आदि-अंत में लघु हो वह जगण (ISI), मध्य में लघु तथा आदि-अंत में गुरू हो वह रगण, (SIS), अंत गुरू और आदि-मध्य लघु हो वह सगण (IIS) तथा जिसके अंत में लघु और आदि-मध्य में गुरू हो वह तगण (SSI) होता है।

'प्राकृतपैंगलम्' में भी ऐसा ही निर्देश है।[४०]

'प्राकृतपैंगलम्' में गणों के देवता, फल आदि का उल्लेख है[४१]—

क्रम	गणसंज्ञा	गण स्वरूप	देवता	फलाफल
१.	मगण	SSS	पृथ्वी	ऋद्धि
२.	नगण	III	जल	बुद्धि
३.	भगण	SII	काल	मंगल
४.	यगण	ISS	अग्नि	सुख-सम्पदा
५.	जगण	ISI	गगन	उद्वेग
६.	रगण	SIS	सूर्य	मरण
७.	सगण	IIS	चंद्रमा	प्रवास
८.	तगण	SSI	नाग	शून्य

मगण, नगण मित्र हैं। यगण, भगण सेवक हैं। जगण, तगण दोनों उदासीन है। सगण, रगण हमेशा शत्रु हैं।[४२]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्द का सीधा सम्बन्ध रस या भाव से है। साहित्यशास्त्रियों ने प्रत्येक रस के लिए अलग-अलग छंदों का विधान किया है। लगता है हर युग में ऋषि भी छंद और रस-भाव के प्रगाढ़ सम्बन्धों से परिचित रहे हैं। इसलिए आगमों में भी भिन्न-भिन्न भावों तथा रसों के लिए भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग मिलता है। उत्तरज्झयणाणि का अधिक भाग पद्यात्मक है। इसमें मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं।

मात्रिक

मात्राओं की गणना को मात्रिक छंद कहते हैं। एक मात्रिक वर्ण ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ, त्रिमात्रिक प्लुत तथा स्वररहित व्यजन अर्द्धमात्रिक होता है।

उत्तराध्ययन में मात्रिक छन्दों में गाथा का प्रयोग प्राप्त है।

गाथा छन्द

गाथा शब्द 'गाङ् गतौ', 'गै शब्दे' तथा 'गा स्तुतौ'[४३] धातु से थकन् तथा स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। शब्दकल्पद्रुम में इसे ज्ञेयछन्द एवं वाङ्मयार्णव में वाणी और छंद के अर्थ में स्वीकृत किया है–'गाथा तु वाण्यामार्यायाम्पियलानुक्तनामसु।'[४४]

संस्कृत में गाथा छन्द को आर्या कहते हैं। जिसके प्रथम और तृतीय पद में बारह मात्राएं, दूसरे में अठारह तथा चतुर्थ पद में पंद्रह मात्राएं हों उसे आर्या कहते हैं–

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पचदश साऽऽर्या।।[४५]

'प्राकृतपैंगलम्' में गाथा का लक्षण इस प्रकार है–

पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुता।
जह पढमं तह तीअं दहपंच विहूसिआ गाहा।।[४६]

आख्यान, कथात्मक संवाद, चरित्र-सौन्दर्य एवं सिद्धांत-व्याख्या आदि में गाथा का प्रयोग किया जाता है।

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त गाथाओं के कुछ चरणों में नौ, दस, ग्यारह आदि अक्षर हैं। महालक्ष्मी, सारंगिका, पाइत्ता, कमल आदि कई छन्द नव अक्षर वाले हैं। पर उनकी उनसे गण- संगति नहीं बैठती है, इसलिए उन्हें

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा के अंतर्गत ही रखा गया है। उसी प्रकार दस, ग्यारह अक्षरों वाले भी उत्तराध्ययन में गाथा छन्द के अंतर्गत समाविष्ट किये गये हैं।[४७] कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

कंपिल्लम्मि	य	नयरे	
S S S I	I	I I S	= १२ मात्राएं
समागया दो	वि	चित्तसंभूया	
I S I S S	I	S S S S I	= १८ मात्राएं
सुहदुक्खफलविवागं			
I I S I I I I			= १२ मात्राएं
कहेंति	ते	एक्कमेक्कस्स	(उत्तर. १३/३)
I S I	S	S I S S S	= १५ मात्राएं

काम्पिल्य नगर में चित्त और संभूत दोनों मिले। दोनों ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दुःख के विपाक की बात की।

से	देवलोगसरिसे		
S	S I S I I I S		=१२ मात्राएं
अंतेउरवरगओ	वरे	भोए।	
S S I I I I I S	I S	I S	= १८ मात्राएं
भुंजित्तु	नमी	राया	
S S I	I S	S S	= १२ मात्राएं
बुद्धो	भोगे	परिच्चयई।।	(उत्तर. ९/३)
S S	S S	I S I I S	= १५ मात्राएं

उस नमिराज ने प्रवर अन्तःपुर में रहकर देवलोक के भोगों के समान प्रधान भोगों का भोग किया और संबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगों को छोड़ दिया।

वर्णिक

अक्षरों की गणना को वर्णिक छन्द कहते हैं। वर्णिक छन्द के तीन भेद हैं–

१. समवृत्त–जिसके चारों चरण समान हों।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अर्द्धसमवृत्त–जिसमें प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हों।

३. विषमवृत्त–जिसमें चारों चरण असमान हों।

उत्तराध्ययन में अनुष्टुप्, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा वंशस्थ वर्णिक छंद व्यवहृत हुए हैं।

अनुष्टुप्

अनु उपसर्ग पूर्वक स्तुभ् धातु से अनुष्टुप् शब्द निष्पन्न है। निरुक्त में इसका निर्वचन इस प्रकार है–'अनुष्टुबनुष्टोभनात्'[४८] अर्थात् अनुस्तवन करने से यह अनुष्टुप् कहलाता है। वैदिक साहित्य का यह अति प्रिय छंद है। अनुष्टुप् में अक्षरों की संख्या बत्तीस होती है। लोक में इसे 'श्लोक' भी कहा जाता है। इसके चार चरण तथा प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं, मात्राएं अलग-अलग होती हैं।

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोहस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

श्लोक के प्रत्येक चरण में छठा वर्ण गुरु तथा पांचवा लघु होता है। द्वितीय और चतुर्थ चरण में सातवां लघु होता है। प्रथम और तृतीय चरण में सातवां गुरु होता है।

छन्दोमंजरी में इसे वक्त्र छन्द कहा गया है।[४९]

उत्तराध्ययन में अनुष्टुप् का बहुत प्रयोग हुआ है। गाथा छंद के साथ भी अनुष्टुप् का प्रयोग मिलता है। (कुछ चरण गाथा के, कुछ अनुष्टुप् के) इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द का दो रूपों में विवेचन किया जाता है–

१. शुद्ध अनुष्टुप्–जिसके चारों चरणों में अनुष्टुप् का लक्षण घटित हो।
२. अशुद्ध अनुष्टुप्–जिसमें कुछ चरण अनुष्टुप् के तथा कुछ अन्य छन्दों में।

शुद्ध अनुष्टुप्

'चाउरंगिज्जं' में प्राणियों के लिए दुर्लभ किन्तु उपादेय चार तत्त्वों का निरूपण अनुष्टुप् छंद में इस प्रकार है–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।। उत्तर. ३/१

इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ है–मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

इस गाथा के प्रत्येक चरण में छठा वर्ण क्रमषः मं, जं, ई, वी गुरु है तथा पांचवां वर्ण र, ह, सु, य सर्वत्र लघु है। दूसरे और चतुर्थ चरण में सातवां तु, रि लघु है तथा प्रथम और तृतीय में गा, स (संयोग पूर्व)गुरु है।

अनुष्टुप् छंद में हरिकेशी की पूज्यता का वर्णन ध्यातव्य है–

अच्चेमु ते महाभाग!, न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं।। उत्तर. १२/३४

महाभाग! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नहीं हैं, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन लीजिए।

यहां प्रथम चरण का पंचम अक्षर 'म' लघु, छठा 'हा' एवं सातवां 'भा' दोनों गुरु हैं। तृतीय चरण में पांचवां 'लि' लघु तथा छठा 'मं' एवं सातवां 'कू' गुरु है। द्वितीय पाद का पांचवां 'न' तथा सातवां 'चि' लघु है तथा छठा 'अ' (संयोग पूर्व) गुरु है। चतुर्थ पाद का पांचवां 'ण' एवं सातवां 'जु' लघु है तथा छठा 'सं' गुरु है। अतः यहां अनुष्टुप् का लक्षण पूर्णतया घटित है।

मिश्र अनुष्टुप्

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।। उत्तर. १/१

जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय को क्रमशः प्रकट करूंगा। मुझे सुनो।

इसके तृतीय चरण में गाथा छंद का लक्षण घटित है। शेष में ८-८ वर्ण हैं। प्रथम पाद का पंचम लघु तथा छठा, सातवां गुरु है। द्वितीय का पांचवां, सातवां लघु और छठा गुरु है। चतुर्थ का पंचम, सप्तम लघु है तथा छठा गुरु है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपजाति

यह संस्कृत एवं प्राकृत वाङ्मय का प्रमुख छंद है। उदात्तता, भयंकरता आदि के चित्रण में उपजाति छंद का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। छंदसूत्र तथा उसकी वृत्ति में उपजाति के स्वरूप तथा चौदह भेदों का निरूपण किया गया है। पिंगल ने लिखा है– 'आद्यन्तावुपजातयः'[५०] इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरण मिलकर उपजाति का निर्माण होता है।

अर्धमागधी आगमों में प्रभूत मात्रा में उपजाति का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन में चौथा एवं बत्तीसवां अध्ययन उपजाति छंद में निबंधित है।

अविनीत-विनीत शिष्य के लक्षण प्रकट करते हुए उत्तराध्ययनकार कहते हैं–

अणासवा	थूलवया	कुसीला		
।S ।S	S।S।	।S S		(उपेन्द्रवज्रा)
मिउं पि	चण्डं	पकरेंति	सीसा।	
।S ।	S S	।।S।	S S	(उपेन्द्रवज्रा)
चित्ताणुया	लहुदक्खोववेया			
S S ।S	।।।S । S S			(इन्द्रवज्रा)
पसायए	ते हु	दुरासयं	पि।।	उत्तर. १/१३
।S।S	S ।	।S ।S	S	(उपेन्द्रवज्रा)

आज्ञा को न मानने वाले और अंट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य संपन्न करने वाले शिष्य दुराशय गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

उपर्युक्त गाथा के तृतीय चरण में विकल्प का प्रयोग हुआ है। तगण के बाद तगण होना चाहिए था, किन्तु तगण के बाद भगण का प्रयोग हुआ है तथा संयोग से पूर्व 'द' को विकल्प से लघु माना है।

उपजाति छंद में कर्म-सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए आगमकार कहते हैं–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेणे	जहा	संधिमुहे	गहीए			
S S	।S	S ।।S	।S S			(इन्द्रवज्रा)
सकम्मुणा	किच्चइ	पावकारी।				
।S ।S	S ।।	S ।SS				(उपेन्द्रवज्रा)
एवं	पया	पेच्च	इहं	च	लोए	
S S	।S	S ।	।S ।		S S	(इन्द्रवज्रा)
कडाण	कम्माण	न	मोक्ख	अत्थि।।		उत्तर. ४/३
।S।	S S।	।	S ।	S S		(उपेन्द्रवज्रा)

इन्दवज्रा

यह ग्यारह अक्षरों वाला वर्णिक छंद है, समछन्द है। इस छंद के प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण एवं अंत में दो गुरु का विधान किया जाता है। पिंगल ने लिखा है– 'इन्द्रवज्रा तौ ज्गौ ग्।'[५१] वृत्तरत्नाकर में इन्द्रवज्रा का लक्षण इस प्रकार है–'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।'[५२]

के	एत्थ खत्ता	उवजोइया	वा
S	S।SS	।।S।SS	
अज्झावया	वा	सह	खंडिएहिं।
SS।S	S	।।	S।SS
एयं	दंडेण	फलेण	हंता
S S	SS।	।S।	S S
कंठम्मि	घेत्तूण	खलेज्ज	जो णं।। उत्तर. १२/१८
SS।	SS।	।S।	S S

यहां कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे से पीट, एडी का प्रहार कर, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहां से बाहर निकाले।

ऊपर वर्णित छंद के तीसरे चरण को छोड़कर प्रत्येक चरण में दो तगण (SS।,। SS।), एक जगण (। S ।) और अंत में दो गुरु (SS) क्रम से ग्यारह वर्ण हैं। तीसरे चरण में वैकल्पिक प्रयोग होने से एकमात्रा की हानि है।

उपेन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा छन्द के चारों चरणों के प्रथम अक्षर लघु अर्थात् ह्रस्व हों,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो कवि श्रेष्ठों ने उस छन्द को उपेन्द्रवज्रा कहा है। पिंगलसूत्र में इसका लक्षण इस प्रकार है--

'उपेन्द्रवज्रा ज्तौ ज्गौग्'

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण फिर एक जगण और दो गुरु हों तो उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं। यथा--

सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे
ISISSISIS
पावसमणि त्ति वुच्चई॥ उत्तर. १७/६

उपर्युक्त छंद के तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित हो रहा है। शेष तीन चरण में अनुष्टुप् का प्रयोग है।

वंशस्थ

प्रसिद्ध छंद होने से प्रायः सभी छन्दशास्त्रियों ने इसका विवेचन किया है। पिंगल ने इसका लक्षण बताया--'वंशस्था जतौ जरौ।'[५३] यह भी वर्णिक छंद है। इसके चारों चरण समान होते हैं। जगण, तगण, जगण, रगण के क्रम से प्रत्येक चरण में बारह अक्षर होते हैं। वंशस्थ को ही वंशस्थविल, वंशस्तनित आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पाद में यति का विधान होता है।

विनीत के महत्त्व को उजागर करती हुई एक गाथा प्रथम अध्ययन में वंशस्थ छंद में है --

स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।
ISISS IISISIS ISIS SII SIS
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे
ISISS IISISIS
महज्जुई पंचवयाइं पालिया॥ उत्तर. १/४७
ISIS SIISI SIS

वह पूज्यशास्त्र होता है--उसके शास्त्रीयज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को भाता है। वह

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-संपदा से सम्पन्न होकर रहता है। वह तपः सामाचारी और समाधि से संवृत होता है। वह पांच महाव्रतों का पालन कर महान तेजस्वी हो जाता है।

इस गाथा में प्रयुक्त छंद के अंतिम चरण में 'इं' को विकल्प से लघु माना है।[५४]

इसके अतिरिक्त आठवां अध्ययन 'काविलीयं' गीत-गेय हैं, इनका लक्षण 'उग्गाहा' छंद से कुछ मिलता है।

हमारे विचारों के अनुरूप हमारी वाणी उठती-गिरती चलती है। वाणी की यही तरंग, यही उतार-चढ़ाव लय को जन्म देता है। जो भाव छंद बद्ध होता है वह अधिक अमरत्व को प्राप्त करता है। यही कारण है कि ढ़ाई हजार वर्ष के बाद भी ऋषिवाणी की यह अनुगूंज भव्यजनों के कानों में गूंजित होकर मनुष्यजन्म की सार्थकता सिद्ध कर रही है।

अलंकार

आगमवाणी अंतःकरण से उठी आवाज है। पवित्र अंतःकरण से स्फूर्त वाणी में हृदय-पक्ष प्रधान होता है। यही वह कारण है जिससे आर्ष-वाणी-आगम को श्रेष्ठ कह सकते हैं। आर्ष-वाणी की विशेषता है कि यह सीधी व्यक्ति के हृदय को छूती है, उसके कण-कण में व्याप्त होकर उसे भी शीघ्र पावन सामर्थ्य से युक्त बनाती है। ऋषि, उपदेशक अपनी कथन प्रणाली में ऐसी प्रविधियों का आश्रय लेते हैं जिनसे उनकी वाणी सशक्त एवं प्रभविष्णु बन जाती है। उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग में परिगणित आगम है। कथ्य की अभिव्यक्ति एवं सिद्धान्तों के प्रयोग के लिए उत्तराध्ययन सूत्र के ऋषि ने अनेक अलंकारों का विनियोजन किया है, जिनमें उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि प्रमुख हैं।

प्रकृति अपने आवरण को सजाने-संवारने में नित्य नवीन रूप धारण करती है। साहित्यकार प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करने वाला भावुक प्राणी है। वह न केवल अपने बाह्य रूप को सुन्दर बनाने के लिए शृंगार आदि का प्रयोग करता है किन्तु अपनी विचारात्मक अभिव्यक्ति को भी सुन्दर तथा मनोरम बनाने के लिए अलंकारों की सहायता लेता है। काव्य में शब्दगत एवं अर्थगत चमत्कार उत्पन्न करने में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलंकार : अर्थ एवं स्वरूप

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है—सुशोभित करने वाला या जिससे सुशोभित हुआ जाता है। यह कर्त्ता व साधन दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है।

अलंकार का सामान्य अर्थ है—आभूषण। आभूषण शरीर के अंग नहीं हैं, धारण किये जाने वाले पदार्थ हैं। वैसे ही काव्य में अलंकार मूल विषय-वस्तु के अंग न होकर उसकी शैली से सम्बन्धित तत्त्व हैं। आनन्दवर्धन ने शब्दार्थभूत काव्य-साहित्य के आभूषक धर्म को अलंकार कहा है।[५५]

आचार्य मम्मट ने लिखा है— अलंकार शब्दार्थ का शोभावर्धन करते हुए मुख्यतः रस के उपकारक होते हैं। यह शब्दार्थ का अस्थिर या अनित्य धर्म है और इसका स्थान कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भांति अंग को विभूषित करना है।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[५६]

अलंकार का महत्त्व

अलंकार काव्य का सौन्दर्य है। युवती का अत्यधिक लावण्यपूर्ण शरीर-सौन्दर्य बाह्य अलंकार से संपृक्त होकर अधिक विलसित होता है, वैसे ही आत्मा के आलोक से उत्पन्न काव्य का सौन्दर्य अनुप्रास, उपमा आदि बहुविध अलंकारों का सहयोग पाकर उत्कृष्ट हो जाता है। राजशेखर ने अलंकार के महत्त्व को अंकित करते हुए उसे वेद का सातवां अंग माना है— 'उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तमंगमिति यायावरीयः ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः।'[५७] राजशेखर के अनुसार अलंकार अर्थ के उपकारक होते हैं।

भावावेश की स्थिति में अलंकारों का स्वतः प्रस्फुटन हो जाता है तथा कल्पना या भावावेश के कारण भाषा का अलंकृत होना सहज संभाव्य है। अलंकार काव्य के मात्र बाह्य धर्म न होकर मन में आए भाषा के रत्न हैं, जिनमें कल्पना का नित्य विहार है।[५८]

उत्तराध्ययन में अलंकार

उत्तराध्ययन में अलंकार स्वतः स्फूर्त हैं और इनका प्रयोग सहज

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाभाविक तथा भावों की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियां, प्राकृतिक छटा, सांसारिक दृश्य आदि के प्रसंगों में उपमा और दृष्टान्त अलंकार पदे-पदे देखे जा सकते हैं। किस परिस्थिति में कवि किस मानसिक भाव की अभिव्यक्ति करता है— इस तथ्य का उद्घाटन भी सहज हुआ है। अलंकारों में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। ये भावों को सरलता से हृदय तक पहुंचाने के लिए संवाहक हैं।

यहां उत्तराध्ययन में प्रयुक्त कुछ अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है।

❋ उपमा अलंकार

उपमा अलंकार अत्यन्त प्राचीन व सौन्दर्य की दृष्टि से अग्रगण्य है। यह सादृश्यमूलक अलंकार है। उपमा में दो पदार्थों को समीप रखकर एक-दूसरे के साथ साधर्म्य स्थापित किया जाता है। मम्मट की परिभाषा के अनुसार उपमेय और उपमान में भेद होने पर भी उनके साधर्म्य को उपमा कहते हैं।[६३]

प्राचीनता, व्यापकता, रमणीयता, सौन्दर्य-प्रियता आदि की दृष्टि से उपमा का अधिक महत्त्व है। अप्पय दीक्षित ने उपमा को नृत्य की भूमिका में विविध रूपों को धारण कर सहृदयों का रंजन करने वाली नटी के समान माना है —

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यंती तद्विदां चेतः ॥[६४]

उपमा अलंकार सभी अलंकारों में प्रधानभूत है। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा के कवियों, ऋषियों एवं आचार्यों ने उपमा का प्रभूत प्रयोग किया है। संसार का आद्यग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक ललित एवं उत्कृष्ट उपमाएं मिलती हैं। ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, कालिदास का साहित्य उपमाओं से भरा है। उपमा प्रयोग में कालिदास का महत्त्व सर्व स्वीकृत है।

जैन परम्परा में सबसे प्राचीन ग्रन्थ आगम माने जाते हैं, जो आप्तवचन हैं। इनमें उपमाओं का प्रचुर प्रयोग मिलता है। आगम साहित्य का प्रथम एवं आद्य ग्रंथ आचारांग सूत्र में अनेक सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया गया है। नागो संगामसीसे वा (९/८/१३), सूरो संगामसीसे वा (९/३/१३) आदि

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक रमणीय उपमाएं प्रयुक्त हैं। सूत्रकृतांग, ज्ञाता आदि अंगागमों में अनेक प्रकार की उपमाओं का विनियोजन मिलता है।

उपमा-वैशिष्ट्य उत्तराध्ययन काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। उत्तराध्ययन में रचनाकार का कल्पना क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जंगम-स्थावर के व्यापक जगत का कविदृष्टि ने स्पर्श किया है। इसमें प्रयुक्त उपमान प्रत्यक्ष जगत तक ही सीमित नहीं परोक्ष व अन्तर्जगत से भी आए हैं। कहीं पर मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान का, तो कहीं अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान का प्रयोग हुआ है। उपमा शब्द का प्रयोग भी सातवें, बत्तीसवें अध्ययन में हुआ है। इससे अलंकारों की प्राचीनता व विशेष रूप से उपमा अलंकार की प्राचीनता का सहज ही दर्शन हो जाता है। लगता है जबसे साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है, उपमाएं उसके साथ चली हैं।

उत्तराध्ययन में प्राप्त उपमानों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. जंगम वर्ग–तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि।

२. स्थावर वर्ग– वनस्पति जगत, अग्नि, द्वीप, समुद्र आदि।

३. अचेतन वर्ग– अस्त्र-शस्त्र, धातु-पदार्थ, खाद्य-पदार्थ आदि।

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त उपमा अलंकार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

केन्द्र में कौन ?

एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई॥ उत्तर. ५/१५

इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार कर मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान की तरह शोक करता है।

यहां धर्म को गाड़ीवान की सार्थक उपमा देकर कवि कहना चाहते हैं कि गाड़ीवान को गाड़ी ही लक्षित मंजिल की ओर ले जाती है, उसका भार हल्का करती है। किन्तु यदि धुरा-अक्ष टूटा हुआ है तो गाड़ीवान के लिए वही धुरा शोक का कारण बन जाता है, वह असहाय हो जाता है। वैसे ही जो धर्म को स्वीकार नहीं करता है, उसे संसार-चक्र में भटकना पड़ता है। धर्म को स्वीकार करने वाला ही आगे बढ़ सकता है। केन्द्र में धर्म रहे तो वह सुरक्षित रह सकता है, अतः केन्द्र में धर्म का रहना जरूरी है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन : एक तरंग

जीवन की क्षणिकता तथा नश्वरता का चित्रण उपमा के माध्यम से मर्मस्पर्शी बना है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम! मा पमायए॥ उत्तर. १०/१

जिस प्रकार रात्रियां बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

अनुयोगद्वार में इस कल्पना को अधिक सरसता के साथ प्रस्तुत किया है। पके हुए पत्तों को गिरते देख कोंपलें हंसी तब पत्तों ने कहा—जरा ठहरो, एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी, जो आज हम पर बीत रही है।[६१]

कबीर ने इसी उपमान को भाषा देते हुए कहा—

माली आवत देखकर कलियां करे पुकार।
फूलहि फूलहि चुन्हि लियै कालि हमारी बार॥

उत्तराध्ययन का 'दुमपत्तए पंडुयए' उपमान जीवन की क्षणभंगुरता तथा समवर्ती-कृतान्त के सब पर समान वर्तन का द्योतक है।

बहुश्रुतता की ऋद्धि

बहुश्रुत के ऐश्वर्य को प्रतिपादित करने के लिए चक्रवर्ती के उपमान द्वारा कवि की लेखनी विवश होकर कहती है—ऋद्धि-संपन्न चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है—

जहा से चाउरन्ते चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चउदसरयणाहिवई एवं हवई बहुस्सुए॥ उत्तर. ११/२२

चक्रवर्ती षट्खंड का अधिपति होता है। वह चतुरंगिणी सेना—हस्ति, अश्व, रथ और पदाति के द्वारा शत्रु का अंत करने वाला तथा सेनापति, गाथापति आदि चौदह रत्नों का स्वामी होता है। उसी प्रकार बहुश्रुत का विद्या रूपी राज्य चारों दिशाओं में व्याप्त रहता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ इस भावना चतुष्टयी से परीषह रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है तथा चतुर्दश पूर्वों का स्वामी होता है। यहां चक्रवर्ती के उपमान से बहुश्रुत की बहुश्रुतता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पराक्रमशीलता का उद्घाटन कर दोनों में समानता खोजने का सफल उपक्रम हुआ है।

मृत्यु का ग्रास

'जहेह सीहो व मियं गहाय
मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले' उत्तर. १३/२२

जिस प्रकार सिंह हिरण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है।

मृत्यु की निश्चितता, अकाट्यता दर्शाने हेतु सिंह को उपमान बनाया गया है। यहां मृत्यु की उपमा सिंह से तथा मनुष्य की उपमा मृग से की गई है। सिंह के पैरों में आया हुआ मृग बच नहीं सकता, सिंह उसे निगल जाता है। वैसे ही यमराज के हस्तगत कोई भी प्राणी नहीं बच सकता, न उसे कोई बचा सकता है। उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है—इस तथ्य का प्रतिपादन सिंह के उपमान से हुआ है। पूर्णोपमा का यह उदाहरण हृदयग्राही है।

आचारांग वृत्ति में भी मृत्यु की सर्वगामिता बताते हुए कहा है—

वदत यदीह कश्चिदनुसंतत सुख परिभोगलालितः।
प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमायुरवाप्तवान्नरः ॥[६२]

नासते विद्यते भावो ....

जहा य अग्गी अरणीउसंतो खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे॥

उत्तर. १४/१८

पुत्रों ! जिस प्रकार अरणि में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तेल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शरीर का नाश हो जाने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता।

आत्मा के विषय में संदिग्ध होकर पुत्र संयम स्वीकार न करे, इसलिए आत्मा के नास्तित्व का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए देहासक्त इषुकार नृप की पुत्र के प्रति यह उक्ति है। इसमें शरीर की उपमा अरणि आदि से तथा जीव की उपमा अग्नि आदि से देकर असद्वादियों के अभिमत का प्रतिपादन किया गया है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु की सत्ता होती है, न विनाश के बाद उसका कोई अस्तित्व—इसी तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए अरणि और आग, तिल और तेल आदि को उपमान बनाया गया है।

'जहा' के प्रयोग से यहां निदर्शना अलंकार भी है।

अपुत्रस्य गति : ....

पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी, भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिन्दो
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए, पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥

उत्तर. १४/३०

बिना पंख का पक्षी, रणभूमि में सेना रहित राजा और जलपोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो गया हूं।

'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति', 'अनपत्यस्य लोका न सन्ति' लोकप्रसिद्ध इस तथ्य को उजागर करने के लिए पंखविहीन पक्षी, सेना रहित राजा और जलपोत पर धन रहित व्यापारी– इन उपमानों का सटीक प्रयोग किया गया है। इन उपमानों के माध्यम से यहां पुत्र रहित भृगु पुरोहित की असहायदशा का प्रकटीकरण हुआ है। मालोपमा का यह सुन्दर उदाहरण है।

पंखविहीन पक्षी के उपमान की तुलना महाभारत के स्त्रीपर्व से की जा सकती है। व्यासजी ने स्त्रीपर्व में सौ पुत्रों के मारे जाने पर धृतराष्ट्र की उपमा पंखविहीन जराजीर्ण पक्षी से की है। जिसके पंख काट लिये गये हों उस जराजीर्ण पक्षी के समान पुत्रों से हीन हुए मुझे अब इस जीवन से क्या प्रयोजन है? 'लूनपक्षस्य इव मे जराजीर्णस्य पक्षिणः।'[६३]

बंधन में सुख कहां?

प्रसंग उस समय का है जब भृगु पुरोहित प्रचुर धन-धान्य छोड़ पुत्र और पत्नी सहित दीक्षित हो गया। यह बात सुनकर जब ईषुकार राजा परित्यक्त धन लेना चाहता है तब कमलावती प्रियतम को कहती है–जैसे पक्षिणी पिंजरे में सुख का अनुभव नहीं करती, वैसे ही मैं इस बंधन में सुख नहीं पा रही हूं—

'नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा' उत्तर., १४/४१

संयम की नब्ज छूते कमलावती के ये स्वर सराहनीय हैं। कमलावती

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं स्त्रीलिंग होने से उपमान भी पक्षिणी चुना है। पिंजरे में सभी सुख प्राप्त पक्षिणी बन्धन की अनुभूति से व्यथित है। उसका मूल स्वभाव है उन्मुक्त गगन में विहरण और वह उसे प्राप्त नहीं हो रहा है। वैसे ही महल में सातों सुखों का उपभोग करती हुई कमलावती आत्मा के स्वाभाविक/मूल गुणों में रमण नहीं करने के कारण मुक्ति की अभीप्सा से व्यथित है। इस अशक्तता/असमर्थता को प्रकट करने के लिए आगमकार ने पिंजरे में बंद पक्षिणी को उपमान बनाया है।

अनासक्त चेतना

प्रसंग है मृगा रानी के अंगज दमीश्वर मृगापुत्र का। संयम प्राप्त करने की तीव्र अभीप्सा लिए विविध उपायों से माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर ममत्व का छेदन कर रहा है। एक-एक कर सांसारिक बंधनों को तोड़ रहा है—

इड्ढिं वित्तं च मित्ते य पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ॥ उत्तर. १९/८७

ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की भांति झटककर वह निकल गया, प्रव्रजित हो गया।

जैसे धूलि को वस्त्र से अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार मृगापुत्र सांसारिक संबंधों को अलग कर संयम में लग गया। इससे भेद विज्ञान तथा संयम मार्ग के साधक की अपुनरावर्तनीयता अभिव्यंजित हो रही है।

मोर्चे पर हाथी

'संगामसीसे इव नागराया' उत्तर. २१/१७

संग्रामशीर्ष को उपमान बनाकर कवि कह रहा है—जैसे मोर्चे पर नागराज व्यथित नहीं होता, वैसे परीषहों को प्राप्त कर भिक्षु व्यथित न बने।

युद्धक्षेत्र में नागराज शत्रुसेना को देख न चिंघाड़ता है, न वहां से पलायन करता है, न कष्ट का अनुभव करता है अपितु शत्रुओं से सामना कर विजयश्री का वरण करता है, वैसे ही मुनि परीषह उपस्थित होने पर कष्ट का अनुभव न करते हुए समभाव से सहन कर उनसे मुकाबला करें। यहां हाथी और मुनि की तुल्यता स्तुत्य है। नाग स्थिरता, प्रसाद, मर्यादा का प्रतीक है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध में नाग अपनी मर्यादा छोड़ भागता नहीं, वैसे ही संयम स्वीकार करने के बाद परीषह आने पर साधु अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। मर्यादा की रक्षा बिना पराक्रम नहीं हो सकती। प्रस्तुत उपमान द्वारा यहां धैर्यशीलता, स्थिरता, सहनशीलता अभिव्यंजित हुई है।

शील सुरक्षा

'जहा विरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो॥'

उत्तर. ३२/१३

जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता। इस प्रसंग में बिडाल की उपमा स्त्री से तथा चूहे की उपमा ब्रह्मचारी से की गई है। इससे यह द्योतित होता है कि बिडाल के पास रहने से चूहों की मृत्यु निश्चित है, वैसे स्त्रियों के पास रहने से ब्रह्मचर्य रूपी शिरोरत्न की सुरक्षा संभव नहीं है।

इसी प्रकार बहुश्रुत साधु को प्रतिपूर्ण चन्द्रमा की —

जहा से उडुवई चंदे नक्खत्तपरिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए एवं हवइ बहुस्सुए॥ उत्तर . ११/२५

कामभोगों को किंपाकफल की —

जहा किम्पागफलाणं परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुंदरो॥ उत्तर. १९/१७

भोगासक्त को स्वादु फल वाले वृक्ष की—

दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी। उत्तर. ३२/१०

साधुओं में श्रेष्ठतम तथा श्रुत -औषधि-सम्पन्न बहुश्रुत को मंदर पर्वत की उपमा दी गई है —

जहा से नगाण पवरे सुमहं मंदरे गिरी।
नाणोसहिपज्जलिए एवं हवइ बहुस्सुए॥ उत्तर. ११/२९

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये औचित्यपूर्ण उपमान सहज ही हृदय को छूने वाले हैं। इनकी काव्यभाषा विभिन्न भावों, विचारों, अनुभावों आदि के साथ संदर्भों की अनुगामिनी भी है। ऐसी और भी अनेक उपमाएं उत्तराध्ययन में प्रयुक्त हुई हैं।

आगमकार ने जिन उपमानों का प्रयोग किया है, उत्तरवर्ती साहित्य और जनजीवन में कुछ उपमाओं का तो व्यापक प्रचलन और प्रयोग हुआ है और कुछ उपमाएं उत्तरवर्ती प्रयोगकर्त्ताओं से लगभग अछूती सी रह गई हैं। लेकिन प्रचलित और अप्रचलित दोनों ही प्रकार की उपमाएं अपने आप में नई दृष्टि, नया सोच, नया संदेश लिए हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

संस्कृत साहित्य में उपमा के संदर्भ में कविवर्य कालिदास ने जो स्थान पाया है, यदि आगमों का भी उस दृष्टि से अध्ययन किया जाता तो सचमुच कोई नई उपलब्धि सामने आ सकती थी। फिर 'उपमा कालिदासस्य' की जगह शायद शोधकर्त्ता को ''उपमा उत्तराध्ययनस्य'' कहने के लिए विवश होना पड़ता।

❋ रूपक अलंकार

रूपक सादृश्यमूलक अलंकार है। स्वरूपगत चारूता व कवि परम्परा में प्राप्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपमा के बाद रूपक का ही स्थान है। भामह ने गुणसाम्य के आधार पर उपमेय में उपमान के आरोप को रूपक कहा है—

उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥[६४]

यह प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप है।

उत्तराध्ययन में रूपक अलंकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अध्ययन की सुविधा से उत्तराध्ययन में प्राप्त रूपकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. छोटे-छोटे रूपकों के माध्यम से जीवन के महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करना।

२. माला-रूपक के रूप में अत्यन्त विशाल चित्र जिसमें आरोप की लम्बी परम्परा चलती है और मौलिक उद्भावनाओं के साथ अध्यात्म के गूढ़ विषयों का सरलता से प्रतिपादन हुआ है।

रूपक अलंकार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय वृक्ष का, राजा का

प्रव्रज्या के लिए तत्पर नमि राजर्षि से ब्राह्मण रूप में इन्द्र प्रश्न करता है— आज मिथिला के प्रासादों और गृहों में कोलाहल से युक्त दारुण शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं? तब राजर्षि के उत्तर को ग्रन्थकार रूपक की भाषा में वस्तु-स्थिति की सच्ची झलक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— मिथिला में मनोरम पक्षियों के लिए सदा उपकारी एक चैत्यवृक्ष था। तूफानी हवा ने उस मनोरम चैत्यवृक्ष को उखाड़ दिया। अतः उसके आश्रित पक्षी दुःखी, अशरण और पीड़ित होकर आक्रन्दन कर रहे हैं—

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया॥
वाएण हीरमाणंमि, चेइयंमि मणोरमे।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कन्दंति भो खगा॥ उत्तर. ९/९, १०

यहां ग्रन्थकार ने नमि को चैत्यवृक्ष बतलाते हुए रूपक बांधा है। पक्षियों के उपचार से सूत्रकार बताना चाहते हैं कि नमि राजर्षि के अभिनिष्क्रमण को लक्ष्य कर नमि के सभी स्वजन तथा मिथिलावासी आक्रन्दन कर रहे हैं, मानो चैत्यवृक्ष के धराशायी हो जाने पर पक्षिगण आक्रन्दन कर रहे हों। वैराग्य रूपी वायु ने नमि को संसार से विरक्त किया है, इसलिए स्वजन रूपी पक्षी अपने स्वार्थ का भंग होते हुए देख विलाप कर रहे हैं। इष्ट वस्तु का वियोग ही इनके रुदन का कारण है।

नमि के अभिनिष्क्रमण से मिथिलावासियों की मनःस्थिति का चित्रण इस रूपक से हो रहा है।

सुरक्षा कैसे ?

ब्राह्मण के द्वारा नगर-रक्षा के लिए कोट, आगल, तोप आदि के निर्माण की बात सुनकर रक्षा का उपाय बताते हुए नमि ने रूपक द्वारा शक्रेन्द्र को समझाया—

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खंति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥ उत्तर. ९/२०

सम्यक्त्व के आधारभूत तत्त्व श्रद्धा को मैंने नगर बनाया है। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इसके पांच द्वार हैं। क्षमा, आर्जव आदि दश

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म उस नगरी की रक्षा के लिए सुदृढ़ किला है। अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तप तथा आश्रव को रोकने के लिए संवर उस कोट की आगल है। कोट की रक्षा के लिए बुर्ज, खाई, और शतघ्नी शत्रुओं से अजेय मन, वचन, काय, गुप्ति है। उससे कर्म रूपी शत्रु श्रद्धा रूपी नगरी में प्रवेश नहीं कर सकते। यहां मूर्त्त पर अमूर्त्तत्व का आरोप हुआ है।

इस रूपक में नगर-रक्षा के उपकरण परकोटा, बुर्ज, खाई, शतघ्नी आदि को आत्म-रक्षा के उपकरण श्रद्धा, तप, संयम, क्षमा रूप में बताकर कवि की कल्पना-शक्ति जीवंत हो उठी है।

प्रशस्त होम

वैदिक परम्परा कर्मकाण्ड प्रधान थी। यज्ञ-याग आदि की परम्परा प्रचलित थी। जैन दर्शन में बाह्य यज्ञ आदि के कोई उपचार न थे। लेकिन जब सम-सामयिक भाषा में जैन दर्शन की प्रस्तुति की आवश्यकता समझी गई तो आध्यात्मिक यज्ञ की कल्पना की प्रस्तुति करते हुए हरिकेशी मुनि ने कहा—

'तवो जोइ जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसंती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं।।'

उत्तर. १२/४४

इस गाथा में कवि की कल्पना-रूपक की शैली प्रशंसनीय है। मुनि षट्-जीवनिकाय के रक्षक होते हैं। यज्ञ आदि कार्य कैसे करें? हरिकेशी मुनि अहिंसक होम की बात करते हुए कहते हैं—

तप ज्योति है। जीव ज्योतिस्थान है। योग घी डालने की करछियां हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि-प्रशस्त होम करता हूं।

यहां रूपकात्मक भाषा में वैदिक परम्परा के यज्ञ की सामग्री से यज्ञ की बात न कहकर भावयज्ञ की सामग्री से प्रशस्त यज्ञ की बात कह तप पर ज्योति का आरोप, जीव पर ज्योति-स्थान आदि का आरोप किया गया है। तप रूपी ज्योति से ही आत्मा कर्मग्रन्थियों का छेदन कर शाश्वत सुख की ओर अग्रसर हो सकता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुष्कर है इन्द्रिय-दमन

जहा भुयाहिं तरिउं दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसंतेणं दुक्करं दमसागरो॥ उत्तर. १९/४२

जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है।

सागर को पार पाना कितना कठिन है, उतना ही कठिन है इन्द्रियों को अपने वश में करना। इस तथ्यपूर्ण रूपक से इन्द्रियों के शमन की कठिनता अभिव्यंजित हो रही है।

मित्र कौन ? शत्रु कौन ?

महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन में अनाथी मुनि का वर्णन है। संयम स्वीकार कर जब वे स्वयं के तथा सभी प्राणियों के नाथ बन गये, उसके बाद उन्होंने आत्मकर्तृत्व की व्याख्या की। रूपक की भाषा में उन्होंने कहा—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥ उत्तर. २०/३६, ३७

आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही कामदुधा धेनु है, आत्मा ही नन्दनवन है, आत्मा ही सुख-दुःख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है, सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

आत्मा स्वतंत्र है, सर्व शक्तिमान है। अपने कर्मों की कर्त्ता या विकर्त्ता वह स्वयं ही है। बंधन और मुक्ति कहीं बाहर नहीं, अपने ही भीतर है। जो राग-द्वेष के वशीभूत है, वह बद्ध है और जो इसकी शृंखला को तोड़ आगे बढ़ चुका वह मुक्त है, भीतर प्रतिष्ठित होकर सुख का अनुभव कर रहा है।

सुप्रतिष्ठित आत्मा द्वारा भीतर जाकर सुख से बैठें और आराम करें, बाहर अटक न जाएं। इसलिए शत्रु और मित्र की भाषा में आत्मा को प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया—दुष्प्रवृत्ति में लगी आत्मा वैतरणी नदी, कूट शाल्मली वृक्ष तथा शत्रु है। सत्प्रवृत्ति में लगी आत्मा कामधेनु, नन्दनवन और मित्र है। यहां अमूर्त्त पर मूर्त्तत्व का आरोप हुआ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन रूपकों के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने कथ्य की भावानुकूल अभिव्यक्ति देकर उदात्त जीवन-मूल्यों के अनेक चित्र खींचे हैं। कवि की कल्पना, कवि के विचार, कवि के मनोगत भाव अभिव्यक्त हुए हैं।

❊ दृष्टान्त अलंकार

दृष्टान्त का अर्थ है उदाहरण। दृष्टान्त में किसी एक बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिए उसके सदृश दूसरी बात कही जाती है। जहां उपमेय, उपमान और उनके साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने लिखा है—

'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिंबनम्।'[६५]

उत्तराध्ययनकार ने अपने कथन की अभिव्यक्ति के लिए दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग बहुलता से किया है।

तिरस्कार का पात्र

अविनीत शिष्य के स्वरूप प्रतिपादन का चित्रण कुतिया के दृष्टान्त से इस प्रकार किया गया है—

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई॥ उत्त. १/४

कुतिया के धर्म का मनुष्य पर आरोप करते हुए यह द्योतित किया है कि दुश्शील शिष्य सर्वत्र तिरस्कार का पात्र होता है। पूतियुक्त शुनी कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं कर सकती, वैसे ही उदण्ड कहीं भी सम्मान प्राप्त नहीं करता।

यहां पर अविनीत शिष्य और सड़े कान वाली कुतिया में बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार 'शुनी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त गर्हा एवं कुत्सा को व्यक्त करने के लिए किया गया है।[६६]

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने इस मंतव्य को इस प्रकार भाषा दी है—

कुहया काना री कूतरी तिणरै झरै कीड़ा राध लोही रे।
सगले ठाम स्यूं काढ़े हुड़ हुड़ करे, घर में आवण न दे कोई रे॥
धिग धिग अविनीत आतमा॥[६७]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलधन क्या ?

जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥ उत्तर. ७/१४, १५

जैसे तीन वणिक पूंजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है और एक मूल को भी गंवाकर वापस आता है— यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

वणिक -पुत्रों के दृष्टान्त से जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करते हुए कवि का कहना है— कमाने के लिए परदेश गया हुआ एक वणिक्-पुत्र मूलपूंजी को बढ़ाकर आता है, एक कम से कम मूलधन को तो सुरक्षित रखता है और एक मूल को भी द्यूत, मद्य आदि के सेवन में लगा देता है। यहां हमारा मूलधन मनुष्यत्व है। प्रथम वणिक की तरह जो चारित्रिक गुणों से युक्त होता है वह मूलधन को बढाकर लाभ रूप देव गति को प्राप्त होता है। दूसरे वणिक की तरह जो संसार में रहकर भी संयम से जीवन यापन करता है वह अपने मूलधन की सुरक्षा करता है, मरकर पुनः मनुष्यभव धारण करता है। तीसरे वणिक की तरह जो हिंसा आदि में जीवन व्यतीत करता है वह मूल/मनुष्यत्व को भी गंवाकर निम्न गतिओं में भ्रमण करता रहता है।

उपर्युक्त दृष्टान्त से पुरुषों की तीन श्रेणियां दृष्टिगोचर होती हैं—

१. उत्तम २. मध्यम ३. अधम

उत्तम पुरुष मूलधन को सुरक्षित रखते हुए उसे और बढ़ा देता है। इस दृष्टान्त से उत्तम पुरुष के समान ही चरित्र ग्राह्य है—यह अभिव्यंजित हो रहा है।

जीवन की अनित्यता

जीवन की चंचलता, अस्थिरता के प्रतिपादन के लिए कुशाग्र पर स्थित ओस-बिन्दु का दृष्टान्त कवि-शब्दों में निर्दिष्ट है—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए॥ उत्तर. १०/२

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मनुष्य जीवन की गति है। इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

यहां ओस-बिन्दु और जीवन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

जानामि धर्मं ...

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।"

मोहकर्म व्यक्ति में मूढ़ता उत्पन्न करता है। उससे चेतना पर आवरण आ जाने से सच्चाई जानते हुए भी व्यक्ति उसका आचरण नहीं कर सकता। जानते हुए भी मनुष्य धर्म का आचरण क्यों नहीं कर पाते ? दृष्टान्त के माध्यम से कवि कहता है—जैसे दलदल में फंसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुंच पाता, वैसे ही काम-गुणों में आसक्त बने हुए हम श्रमण धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते।

नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एव वयं कामगुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥

उत्तर. १३/३०

हाथी के दृष्टान्त से यहां करणीय कार्यों की प्रवृत्ति में मनुष्य की असमर्थता लक्षित हो रही है। दलदल में फंसा हाथी असमर्थ, असहाय होता है, सीधे मार्ग पर जा नहीं सकता, वैसे ही कामासक्त सन्मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाता।

आसक्ति से उपरत

सांसारिक सुख-भोगों को छोड़ संयम पथ पर अग्रसर होते हुए पुत्रों को देख पुरोहित अपनी पत्नी से कहता है—जैसे सांप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त भाव से चलता है, वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ जा रहे हैं —

जहा य भोई ! तणुयं भुयंगो, निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहंति भोए, ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को॥

उत्तर. १४/३४

सर्प के दृष्टान्त से यहां भृगुपुत्रों की भोगों के प्रति अनासक्त भावना तथा निरपेक्षता परिलक्षित हो रही है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

❊ पर्याय अलंकार

जब एक वस्तु की क्रमशः अनेक स्थानों में अथवा अनेक वस्तुओं की क्रमशः (कालभेद से) एक स्थान में स्वतः अवस्थिति हो या अन्य द्वारा की जाय तो वहां पर्याय अलंकार होता है।

उत्तराध्ययन में कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में आत्मा का वर्णन पर्याय अलंकार का निदर्शन है–

आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु, नन्दनवन, सुख-दुःख की करने वाली, उनका क्षय करने वाली, मित्र तथा शत्रु है।[८८]

यहां एक ही आत्मा का अनेक रूपों में वर्णन होने से पर्याय अलंकार है।

❊ परिकर अलंकार

परिकर का अर्थ है—उपकरण, उत्कर्षक या शोभाकारक पदार्थ। परिकर अलंकार के उद्भावक रुद्रट के अनुसार विशेष अभिप्राय से युक्त विशेषणों से जहां वस्तु को विशेषित किया जाए वहां परिकर अलंकार होता है।[२]

आचार्य मम्मट का कहना है—

'विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।'[९०]

अनेक सार्थक एवं अभिप्राय युक्त विशेषणों के द्वारा वर्णनीय पदार्थ का परिपोषण किया जाए उसे परिकर कहते हैं।

उत्तराध्ययन में प्रभूत मात्रा में परिकर अलंकार प्रयुक्त हुआ है।

भूतिप्रज्ञ

'अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना? उत्तर. १२/३३

अर्थ और धर्म को जानने वाले भूतिप्रज्ञ आप कोप नहीं करते। यहां हरिकेशी मुनि के लिए गुणनिष्पन्न 'भूइपन्ना' शब्द का प्रयोग किया गया।

चूर्णिकार ने भूति का अर्थ मंगल, वृद्धि और रक्षा किया है तथा प्रज्ञा का अर्थ किया है— वह बुद्धि जिससे पहले ही जान लिया जाता है। जिसकी बुद्धि सर्वोत्तम मंगल, सर्वश्रेष्ठ वृद्धि या सर्वभूत-हिताय प्रवृत्त हो, वह भूतिप्रज्ञ कहलाता है।[९१]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिकेशी मुनि सभी जीवों के मंगल कल्याण में रत थे। उन्होंने त्याग, तपस्या, द्वारा विश्व-कल्याण के लिए संयम को संवर्धित किया। इसलिए 'भूइपन्ना' सार्थक विशेषण प्रयुक्त किया गया।

इसी प्रकार उन्हें ख्याति/यश के लिए 'महाजसो, अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्नता के लिए 'महाणुभागो', दुर्धर महाव्रतों को धारण करने के कारण 'घोरव्वओ' कषायों को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य होने के कारण 'घोरपरक्कमो', योगजन्य विभूति के कारण 'आसीविसो', उग्र तपस्या करने के कारण 'उग्गतवो' आदि विशेषणों से विशेषित किया गया।

ये सभी विशेषण साभिप्राय होने से यहां परिकर अलंकार है।

मृगापुत्रीय अध्ययन में मृगापुत्र के लिए बलभद्र राजा का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण 'जुवराया', भविष्य में उपशमशील व्यक्तियों का ईश्वर होने के कारण 'दमीसरे', राजसिक सुखों का स्वामी होने से 'सकुमालो', स्वच्छ रहने के कारण 'सुमज्जिओ' आदि विशेष अभिप्राय युक्त विशेषणों का प्रयोग प्राप्त है।

इसी अध्ययन में संयत श्रमण के लिए महाव्रती होने से 'तवनियमसंजमधरं', शील-समृद्धता की दृष्टि से 'सीलड्ढं' तथा अनेक गुणों के धारक होने के कारण 'गुणआगरं' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

❊ काव्यलिंग अलंकार

जब वाक्यार्थ या पदार्थ किसी कथन का कारण हो तो काव्यलिंग अलंकार होता है। आचार्य मम्मट ने लिखा है— **'काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता'**[७२] जहां पर कारण एवं कार्य हो वहां काव्यलिंग होता है।

उत्तराध्ययन में काव्यलिंग के अनके उदाहरण मिलते हैं।

शारीरिक कांति से दैदीप्यमान

'महज्जुई पंचवयाइं पालिया' उत्तर. १/४७

विनीत शिष्य पांच महाव्रतों का पालन कर महान तेजस्वी हो जाता है।

यहां पांच महाव्रतों का अखण्ड पालन कारण है, जिससे शिष्य तेजस्विता को प्राप्त होता है। इसलिए यहां काव्यलिंग अलंकार है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसी करणी वैसी भरणी

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का ऐहिक और पारलौकिक भय होता है—

अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं॥ उत्तर. ९/५४

यहां क्रोध से नरकगति, मान से अधम गति, माया से सुगति का विनाश/दुर्गति की प्राप्ति, लोभ से भय की प्राप्ति के परिणामों का प्रतिपादन सकारण होने से काव्यलिंग अलंकार है।

लोक-प्रचलित कथन—लोभी व्यक्ति निरन्तर भयभीत रहता है—इस व्यावहारिक तथ्य का भी यहां उद्घाटन हुआ है।

अकाल में विनाश

'रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं'

उत्तर. ३२/२४

जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। यहां तीव्र आसक्ति कारण है तथा अकाल में मृत्यु कार्य है।

पूर्वजन्म की स्मृति कैसे करें?

'उवसंतमोहणिज्जो सरई पोराणियं जाइं' उत्तर. ९/१

नमि का मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई।

यहां पूर्वजन्म की स्मृति रूप कार्य का, उपशांत मोह कारण होने से काव्यलिंग अलंकार है।

*** उदात्त अलंकार**

जहां ऐश्वर्य, विभूति, समृद्धि का वर्णन हो वहां उदात्त अलंकार होता है। सम्पन्नता, महनीयता, उत्कर्ष के निरूपण में इसका प्रयोग श्रेष्ठ समझा जाता है। यह ऐश्वर्य और औदार्य का भी बोधक है।

आत्मिक ऐश्वर्य

अहो ! ते निज्जिओ कोहो, अहो ! ते माणो पराजिओ।
अहो ! ते निरक्किया माया, अहो ! ते लोभो वसीकओ॥ उत्तर. ९/५६

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे राजर्षि ! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है। आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है। आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है। आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है।

यहां देवेन्द्र द्वारा नमि की स्तुति करते समय राजर्षि का उत्कृष्ट चरित्र तथा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय चतुष्क को अपने अधीन करने से नमि का आत्मिक ऐश्वर्य सामने आता है।

संयमी के पग-पग निधान

महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन में अनाथी मुनि की शारीरिक संपदा के वर्णन के समय उदात्त अलंकार दर्शनीय है—

अहो ! वण्णो अहो ! रूवं, अहो ! अज्जस्स सोमया।
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! भोगे असंगया॥ उत्तर. २०/६

आश्चर्य ! कैसा वर्ण और कैसा रूप है, आर्य की कैसी सौम्यता है, कैसी क्षमा और निर्लोभता है, भोगों में कैसी अनासक्ति है।

उपर्युक्त गाथा में शारीरिक एवं साधनागत उत्कृष्टता अभिव्यंजित है।

*** अर्थान्तरन्यास अलंकार**

सामान्य का विशेष के साथ अथवा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन करना अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसके पुरस्कर्ता आचार्य भामह हैं। बाद में लगभग सभी आचार्यों ने इसका निरूपण किया।

उत्तराध्ययन में अर्थान्तरन्यास—

इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।,
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणंतिया॥
उत्तर. ९/४८

कदाचित् सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएं, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

अपार संपत्ति का स्वामी हो जाने पर भी लोभी मनुष्य की तृष्णा जीर्ण नहीं होती है। भर्तृहरि के शब्दों में 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।' हम स्वयं

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीर्ण हो जाते हैं फिर भी धन तृप्ति का अनुभव नहीं करा सकता। क्योंकि इच्छाएं द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ती ही जाती हैं, उनका कोई अंत नहीं है।

यहां प्रथम तीन पादों में प्रस्तुत सामान्य बात मानवीय स्वभाव की दुर्बलता का विशेष-इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया-से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। शांत-रस का पूर्ण परिपाक भी यहां दर्शनीय है।

कर्मफल की अनिवार्यता

पसुबंधा सव्ववेया जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंति ह॥ उत्तर. २५/२८

जिनके शिक्षा-पद पशुओं को बलि के लिए यज्ञस्तूपों से बांधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप कर्म के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ दुःशील सम्पन्न उस यश-कर्त्ता को त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान होते हैं।

पापकर्म से बन्धन होता है, मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हिंसा सम्पृक्त कर्मों से कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि कर्म-भोग अनिवार्य है, इसी तथ्य का प्रतिपादन 'कम्माणि बलवंति ह' इस अंतिम चरण के द्वारा किया गया है।

❋ उल्लेख अलंकार

ज्ञाता या विषय भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलंकार है।

जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं। उत्तर. २३/६८

जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है। प्रस्तुत गाथा में धर्म के साभिप्राय चार विशेषण प्रयुक्त किए गए। धर्म द्वीप है। द्वीप रक्षा का द्योतक है। श्रुत धर्म तथा चारित्र धर्म द्वारा संसार चक्र में भटके प्राणियों की संसार-समुद्र से रक्षा होती है, इसलिए धर्म द्वीप है। इन्द्रिय-विषयों में आसक्त, विशृंखलित लोगों को धर्म प्रतिष्ठित करता है, उनकी चंचलता की निवृत्ति करता है, अतः धर्म प्रतिष्ठा है। धर्म मोक्ष का हेतु होने से, मोक्ष की ओर ले जाने के कारण गति है। 'शृ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसायाम्' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर शरण शब्द निष्पन्न होता है। शृ धातु हिंसा, छेदन-भेदन के अर्थ में प्रयुक्त है। धर्म कर्मों का छेदन-भेदन कर दुष्कृत्यों से व्यक्ति की रक्षा करने के कारण उत्तम शरण है। इस प्रकार धर्म का अनेक प्रकार से कथन होने से यहां उल्लेख अलंकार है।

❊ स्वभावोक्ति अलंकार

पदार्थ की जाति, गुण, क्रिया, या स्वरूप का तद्वत् वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है। इसमें जातिगत या स्वभावगत विशेषता का वास्तविक एवं चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है।

उत्तराध्ययन में जगह-जगह पर स्वभावोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

घोरा मुहुत्ता ४/६ काल बड़ा घोर/क्रूर होता है।

घोरा मुहुत्ता से कवि ने संकेत किया है कि मनुष्य की आयु अल्प है। मृत्यु का काल अनियमित होता है। 'घोरा मुहुत्ता' यह स्वभावोक्ति अलंकार मनुष्य की चेतना को यह सोचने के लिए उद्वेलित करता है कि आने वाली सुबह उसके लिए जीवन का संदेश लायेगी या मरण का? पता नहीं मृत्यु कब आ जाए और प्राणी को उठाकर ले जाए।

२६ जनवरी, २००१ में गुजरात ने भूकम्प से उत्पन्न तबाही व प्रलय के दृश्य से 'मुहूर्त्त घोर है' इस दुःखद यथार्थ को भोगा है तथा समूची मानवजाति ने देखा व सुना है।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसिज्जसि? उत्तर. १८/११

इस अनित्य जीवलोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है? राजा संजय हिरणों को व्यथित कर रहा था। मरे हुए हिरणों के स्थान में ही ध्यान में लीन अनगार को देख राजा भयभीत हो गया। अपने दुष्कृत्य के लिए अनगार से क्षमा मांगी। अनगार ने कहा—पार्थिव! मैं तुझे अभयदान देता हूं। तू भी अभयदाता बन। तू स्वयं पराधीन है। हिंसा कर पाप-कर्मों का उपार्जन क्यों कर रहा है। संसार अनित्य है। इस संसार में अहिंसा के आधारभूत तत्त्व अभय और अनित्यता का बोध ये दो ही हैं। इस स्वभावोक्ति से कवि प्रेरणा दे रहा है—

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्राणियों के प्राणों का हरण नहीं करके अभयदाता बनो।

२. अनित्यता की विस्मृति ही मनुष्य को हिंसा की ओर ले जाती है। इसलिए निरन्तर स्मृति बनी रहे—संसार अनित्य है।

उपर्युक्त प्रसंग में अहिंसा स्वाभाविक धर्म है और हिंसा अस्वीकार्य धर्म है, इस तथ्य के साथ साधु जीवन की सहजता भी अभिव्यंजित है।

'वंतासी पुरिसो रायं न सो होइ पसंसिओ' उत्तर.१४/३८

राजन! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती।

भृगु पुरोहित के प्रव्रजित होने के बाद उनकी संपत्ति पर राजा अधिकार करना चाहता है तब कमलावती का यह स्वाभाविक कथन राजा को आत्मविद्या की ओर अग्रसर करता है।

❋ अनुप्रास

शब्दालंकारों में अनुप्रास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। **'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'**[७३] स्वर की विषमता होने पर भी जो शब्दसाम्य होता है, वह अनुप्रास अलंकार है। समान ध्वनियों, अक्षरों या वर्णों की पुनरावृत्ति अनुप्रास है। उच्चारण का सादृश्य विधान, भाषा में लय और साम्य अनुप्रास का मूल है। इसमें स्वरों के समान न होने पर भी व्यंजनों की समानता काम्य है।[७४]

नाद-सौन्दर्य व श्रुति मधुरता ही इसका प्राण है। कुशल ग्रन्थकार के ग्रन्थ में यह शब्द-सौन्दर्य अनायास ही मिलता है। उत्तराध्ययन में अनेक स्थलों पर अनुप्रास की रमणीयता विद्यमान हैं। इसके अनेक भेद हैं।

वृत्त्यनुप्रास

एक या अनेक व्यंजनों की एक या अनेक बार सान्तर या निरन्तर आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं—

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥[७५]

उत्तराध्ययन के अनेक प्रसंगों में वृत्त्यनुप्रास की रमणीयता विद्यमान है—

कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे॥ उत्तर. १/३१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां 'कालेण' तथा 'कालं' की एक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुछिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी॥ उत्तर. १/३६

इस गाथा में सु, ए, त्ति व्यंजनों का अनेक बार अन्तर सहित प्रयोग हुआ है।

अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥ उत्तर. ३/६

यहां ण, स आदि वर्णों की अनेक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

सन्ति मे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव सकाममरणं तहा ॥ उत्तर. ५/२

म, र, ण आदि वर्णों की बार-बार संयोजना हुई है।

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति॥ उत्तर. ५/२८

ण की यहां व्यवधान युक्त संयोजना हुई है।

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी।
अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे। उत्तर. ६/२७

यहां अणुत्तर शब्द की अनेकशः सान्तर आवृत्ति हुई है।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं कि पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुरपारं गमित्तए समयं गोयम! मा पमायए॥ उत्तर.१०/३४

यहां ण्ण, र, म, य, ए आदि वर्णों का प्रबंधन व्यवधानपूर्वक हुआ है।

नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥ उत्तर.११/५

स, ल की व्यवधानपूर्ण पुनरावृत्ति द्रष्टव्य है।

डज्झमाणं न बुज्झामो। उत्तर.१४/४३

यहां ज्झ की एक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

छेकानुप्रास

संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन समूह की एक बार सान्तर या निरन्तर आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क)छेको व्यंजनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा।[७६]

(ख)अनेकस्य, अर्थात् व्यंजनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः।[७७]

कुन्तक ने इसे निम्न भेदों में विभाजित किया है—

१. संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनयुगल की एक बार सान्तर आवृत्ति।
२. संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनसमूह की एक बार सान्तर आवृत्ति।
३. संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनयुगल की एक बार निरन्तर आवृत्ति।
४. संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनसमूह की एक बार निरन्तर आवृत्ति।

न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए॥ उत्तर. १/४०

यहां 'कोवए' असंयुक्त व्यंजन समूह की एक बार अन्तर सहित आवृत्ति तथा 'न सिया' असंयुक्त व्यंजन युगल की एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

'मासे मासे गवं दए' उत्तर. ९/४० इसमें असंयुक्त व्यंजनयुगल 'मासे' का एक बार निरन्तर आवर्तन हुआ है।

'जम्म दुक्खं जरा दुक्खं' उत्तर. १९/१५

इस चरण में 'दुक्खं' का एक बार व्यवधानरहित प्रयोग हुआ है।

न तुमं जाणे अणाहस्स अत्थं पोत्थं व पत्थिया।
जहा अणाहो भवई सणाहो वा नराहिवा॥ उत्तर. २०/१६

यहां 'त्थं' का एक बार सान्तर प्रयोग तथा 'णाहो' का भी एक बार व्यवधान युक्त प्रयोग द्रष्टव्य है।

अन्त्यानुप्रास

पूर्वपद या पाद के अन्त में जैसा अनुस्वार-विसर्ग स्वरयुक्त संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन आता है उसकी उत्तर पद या पाद के अन्त में आवृत्ति अन्त्यानुप्रास कहलाती है। इससे काव्य में लयात्मकताजन्य श्रुतिमाधुर्य उत्पन्न होता है। यथा—

'आलवन्ते लवन्ते वा' उत्तर. १/२१
'महावीरेणं कासवेणं' उत्तर. २/१
'सोच्चा नच्चा जिच्चा' उत्तर. २/२

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।

एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई॥ उत्तर. ३/३

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुऽगारिसु। उत्तर. ५/१९

मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइंदिओ। उत्तर. १२/३

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा

पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा। उत्तर. १४/१३

चंपाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए। उत्तर. २१/१

'अण्णवंसि महोहंसि' उत्तर. २३/७० इन उदाहरणों में पदान्त अनुप्रास है।

श्लेष अलंकार

श्लेष शब्द श्लिष् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है चिपकना या सटना। विश्वनाथ ने श्लेष की परिभाषा करते हुए कहा—**'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते'**[७८] श्लिष्ट शब्दों के द्वारा अनेक अर्थ के अभिधान या कथन को श्लेष कहते हैं। यथा—

श्रुत-महिमा

जहा सुई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सइ।

तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥ उत्तर. २९/६०

जिस प्रकार धागे सहित (ससूत्र) सूई गिरने पर गुम नहीं होती, आसानी से मिल जाती है, उसी प्रकार ससूत्र जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता। यहां एक ससूत्र का अर्थ धागा सहित तथा दूसरे ससूत्र का अर्थ सूत्र सहित है। एक शब्द भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने से श्लेष अलंकार है। इस गाथा से श्रुत-महिमा प्रकट हो रही है।

निरपेक्षता का बोध

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।

पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए॥ उत्तर. ६/१५

संयमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे। पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो, परिव्रजन करे। यहां पत्त शब्द पत्र (पंख) और भिक्षापात्र दोनों के लिए प्रयुक्त होने से इसमें श्लेष अलंकार है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उत्तराध्ययन में प्रयुक्त अलंकारों के अनुशीलन से लगता है कवि की काव्य-प्रतिभा ने प्रसंग के अनुकूल अनेक अलंकारों का विनियोजन किया है। इस ग्रन्थ में ये अलंकार स्वतः स्फूर्त भाषा के अंग बनकर आए हैं तथा भाषा को काव्यात्मक रूप देने में अद्‌भुत योगदान दिया है। साथ ही तथ्य की अभिव्यक्ति, सहजबोध एवं बिम्ब-निर्माण में भी सहायक के रूप में अलंकारों का उपयोग हुआ है।

सन्दर्भ :

१. आप्टे डिक्शनरी, पृ. ८४९
२. तैतिरीय उपनिषद्, २.७ पृ. १७३
३. नाट्यशास्त्र, ६/१६
४. नाट्य-शास्त्र, पृ. ७१
५. साहित्य- दर्पण, ३/१७४
६. साहित्य-दर्पण, ३/१७५
७. साहित्य-दर्पण, ३/२८ पृ. ९५
८. रसतरंगिणी, द्वितीय तरंग
९. रसतरंगिणी, द्वितीय तरंग
१०. दशरूपक, ४/३
११. काव्यप्रकाश, ४/३१-३४
१२. संगीत सुधाकर, अध्याय ४
१३. 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' । स्थानांग टीका पत्र, २३
१४. अनुयोगद्वारसूत्रम्, पृ. ३२१, ३२३
१५. अणुओगदाराइं पृ. १९३
१६. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/१-३
१७. नाट्यशास्त्र, ६/५०
१८. दशरूपक, ४/८१
१९. सरस्वती कंठाभरण, ऽ ७६
२०. नाट्यशास्त्र, पृ. ७५
२१. नाट्यशास्त्र, पृ. ७६
२२. अणुओगदाराइं, पृ. १९४
२३. नाट्यशास्त्र, पृ ७७

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. अणुओगदाराइं, १९३
२५. अणुओगदाराइं, पृ. १९३
२६. 'दसवेआलियं, ८/३८)
२७. अणुओगदाराइं, १९४
२८. अथाद्भुतो नाम विस्मय-स्थायीभावात्मकः' नाट्यशास्त्र, पृ. ७८
२९. अणुओगदाराइं, पृ. १९५
३०. छंद कौमुदी, उपोद्घात पृ. ३
३१. ऋग्वेद, १/९२.६, ८/७/३६
३२. निघण्टु, ३/१६
३३. अष्टाध्यायी, ७/१/८, १०, २६, ३८
३४. पाणिनीय शिक्षा, ४
३५. चाणक्यनीतिदर्पण, ३३
३६. अमरकोष, ३/३/२३२
३७. छंदकौमुदी, उपोद्घात पृ. ४
३८. छन्दो-मन्दाकिनी, श्लोक १
३९. छन्दोमंजरी, १/८
४०. प्राकृतपैंगलम्, १/३३
४१. प्राकृतपैंगलम् १/३४
४२. प्राकृतपैंगलम्, १/३५
४३. संस्कृत धातुकोष, पृ. ३५, ३८
४४. वाङ्मयार्णव, १८८५
४५. श्रुतबोध, ४
४६. प्राकृतपैंगलम् १/५४
४७. उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. ४६३
४८. निरुक्त, ७/१२
४९. छन्दोमंजरी, पृ. १५१
५०. छन्दशास्त्र, ६/१७
५१. छन्दशास्त्र, ६.१५
५२. वृत्तरत्नाकर, ३/३०
५३. छन्दशास्त्र, ६/२८
५४. प्राकृतपैंगलम्, १/५
५५. ध्वन्यालोक, २/६ अ

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५६. काव्यप्रकाश, ८/६७
५७. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय पृ. ७
५८. रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ. ४७२
५९. काव्यप्रकाश, १०/८७
६०. चित्रमीमांसा, पृ. ६ (उद्धृत भारतीय साहित्य शास्त्र कोश)
६१. अणुओगदाराइं, सूत्र ५६९
६२. आचारांग वृत्ति, ४/१६
६३. महाभारत, स्त्री पर्व पृ. १/११
६४. काव्यालंकार, २/२१
६५. काव्यप्रकाश, १०/१०२
६६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २७
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५
६७. विनीत अविनीत की चौपई, ढाल २/१
६८. उत्तर. २०/३६, ३७
६९. काव्यालंकार, ७/७२
७०. काव्यप्रकाश, १०/११८
७१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २१०
७२. काव्यप्रकाश, १०/११४
७३. साहित्यदर्पण, १०/३
७४. काव्यप्रकाश, ९.७९/'स्वरवैसादृश्येपि व्यञ्जन-सदृशत्वं वर्णसाम्यम्'
७५. साहित्यदर्पण, १०/४
७६. साहित्यदर्पण, १०/३
७७. काव्यप्रकाश ९/७९ पृ. १४४
७८. साहित्य दर्पण, १०/११

◆◆◆

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. उत्तराध्ययन में चरित्र स्थापत्य

उत्तराध्ययन में चरित्र स्थापत्य

अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए रचनाकार चरित्र-चित्रण का अवलंबन लेता है। मनुष्य की बाह्य आकृति व साज-सज्जा से पता चलता है कि व्यक्ति गरीब या अमीर है, किन्तु उसके मनोभावों की जानकारी उसके चरित्र से होती है। चरित्र के सम्बन्ध में अरस्तू का अभिमत है कि 'चारित्र्य' उसे कहते हैं, जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे।[1] इससे स्पष्ट है कि चरित्र ही पात्रों की भद्रता-अभद्रता का द्योतन करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है , जो सदाचार की प्रेरणा आपसे आप करती है।[2]

चरित्र चित्रण के द्वारा मानवीय विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदि का सूक्ष्म आकलन संभव होता है। चरित्र संस्थापन के लिए तीन बातों पर ध्यान आवश्यक है –

१. पात्र की स्वयं की उक्ति क्या है ?
२. अन्य पात्र उसके बारे में क्या कहते हैं ?
३. लेखक का पात्र के विषय में क्या मंतव्य है ?

उत्तराध्ययनकार के चरित्र-चित्रण में चरित्र-स्थापत्य का उत्कर्ष नजर आता है। आदर्श और यथार्थवादी चरित्र उभरकर सामने आए हैं। यथार्थता व कला के संयोग से पात्र महत्त्वपूर्ण बन गए हैं।

चरित्र -उपस्थापन का वैशिष्ट्य

१. कथ्य की विशद अभिव्यक्ति के लिए
२. बिम्बात्मकता
३. सशक्त सम्प्रेषणीयता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. आर्हत-जीवन-दर्शन का समुद्घाटन
५. धर्म-दर्शन के तथ्यों का संवाद-शैली में प्रस्तावन
६. कान्तासम्मित उपदेश
७. दुर्बलताएं पात्रों पर हावी नहीं हैं।

उत्तराध्ययन के चरित्र इन्हीं विशेषताओं को उजागर करने वाले हैं। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त मुख्य पात्रों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –

१. मानवीय पात्र
२. मानवेतर पात्र

मानवीय पात्र

अध्ययन की सुविधा के लिए इस वर्ग को भी अनेक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं –

तीर्थंकर

परम अर्हता सम्पन्न, अर्हत, तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर कहलाते हैं। उत्तराध्ययन में तीर्थंकर अरिष्टनेमि (अध्ययन २२) तथा महावीर (अध्ययन २३) का उल्लेख उपलब्ध है।

चक्रवर्ती

छह खंड के अधिपति चक्रवर्ती कहलाते हैं। चक्रवर्ती के रूप में यहां ब्रह्मदत्त (अध्ययन १३) का चित्रण है।

महाव्रती

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचो महाव्रतों का पालन करने वाले महाव्रती कहलाते हैं। उत्तराध्ययन में हरिकेशी (अध्ययन १२), इभ्य पुत्र-चित्र का जीव (अध्ययन १३), अनाथी मुनि आदि संयमी व्यक्तियों का विवेचन है।

नमि राजर्षि (अध्ययन ९), महाराज इषुकार व रानी कमलावती (अध्ययन १४), भृगु पुरोहित, पत्नी यशा व पुरोहित पुत्र (अध्ययन १४), राजा संजय (अध्ययन १८), मृगापुत्र (अध्ययन १९) अरिष्टनेमि, राजीमती और रथनेमि (अध्ययन २२) आदि भी महाव्रत स्वीकार करते हैं। ये सभी पात्र आत्म-उन्नति करते हुए अनुत्तर गति को प्राप्त होते हैं।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजन्य वर्ग के पात्र

राजर्षि नमि, इषुकार, कमलावती, राजा संजय, बलभद्र, मृगारानी व मृगापुत्र, श्रेणिक (अध्ययन २०), अरिष्टनेमि, राजीमती व रथनेमि आदि राजन्य वर्ग के पात्रों का इसमें वर्णन है।

ब्राह्मण वर्ग के पात्र

सोमदेव ब्राह्मण व पत्नी भद्रा (अध्ययन १२), भृगु पुरोहित, पत्नी यशा व पुरोहित पुत्र आदि ब्राह्मण वर्ग के पात्रों का भी विशेष रूप से उल्लेख है।

मानवेतर पात्र

इन्द्र (अध्ययन ९), यक्ष (अध्ययन १२), देव (अध्ययन १२)

यहां कुछ पात्रों का विस्तृत चरित्र-चित्रण अभिधेय है –

१. नमि राजर्षि एवं इन्द्र

पात्रों के चरित्र विकास में परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। 'जहां द्वन्द्व है वहां दुःख है, अकेलेपन में सुख है' इस विरक्त भाव से प्रबुद्ध राजा नमि प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प करता है। नमि को प्रव्रजित होते देख इन्द्र ब्राह्मण वेश में नमि को कर्त्तव्य-बोध देता है और राजा अध्यात्म की गहरी बात बताता है। यहां वार्तालाप के माध्यम से मनःस्थिति को प्रस्तुत करने की कला का वैशिष्ट्य संवाद-योजना द्वारा प्रकट हुआ है।

साधना की भूमिका है – एकत्व की साधना, जहां केवल आत्मा ही शेष रहती है।

इन्द्र कहता है–

एस अग्गी य वाऊय एयं डज्झइ मंदिरं।
भयवं! अंतेउरं तेणं कीस णं नावपेक्खसि॥(९/१२)

यह अग्नि है और यह वायु है। राजन ! आपका यह मन्दिर जल रहा है, आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते ? प्रत्युत्तर में राजा इन्द्र को एकत्व का बोध देता है –

मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥ उत्तर. ९/१४

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। भिक्षु के लिए प्रिय-अप्रिय कुछ नहीं होता है। पुत्र, स्त्री आदि सभी बन्धनों से मुक्त 'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं।' राजर्षि का यह चिन्तन एकत्व की उत्कृष्ट साधना का सूचक है, वैराग्यमय जीवन का द्योतक है।

इसी प्रकार का प्रसंग महाजनक जातक में भी मिलता है –

'मिथिलाय डह्यमानाय न मे किंची अड़यहथ'[३]

भावों की दृष्टि से दोनों में समानता है।

देवेन्द्र अनुकूल प्रासाद आदि का निर्माण करवाकर फिर निष्क्रमण की बात नमि से करता है—

पासाए कारइत्ताणं वद्धमाणगिहाणि य।
बालग्गपोइयाओ य तओ गच्छसि खत्तिया॥(उत्तर. ९/२४)

इन्द्र द्वारा वर्धमान गृह आदि के निर्माण की बात सुन हेतु और कारण से प्रेरित होकर नमि कहता है– संशय से आकुल मन ही मार्ग में घर बनाने का चिंतन करता है। प्रज्ञाशील तो वहां पहुंचना चाहता है जहां उसका शाश्वत घर है। मुझे अपने घर में जाने के साधन सम्यग्-दर्शन आदि प्राप्त हो चुके हैं फिर क्यों नहीं मैं अपना शाश्वत घर बनाऊं ?

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥ उत्तर. ९/२६

जब अन्य राजाओं को वश में करने की बात इन्द्र करता है तब नमि दूसरों से युद्ध करने की अपेक्षा, दूसरों को अपने वश में करने की अपेक्षा अपने आपको वश में करना, अपनी आत्मा से युद्ध करना ज्यादा पसंद करते हैं। नमि की दृष्टि है– बाहरी युद्ध से तुझे क्या? आत्मविजेता ही महान विजयी है –

'एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥ उत्तर. ९/३४

बड़े बड़े यज्ञ, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन, दान आदि करके अभिनिष्क्रान्ति की बात नमि के हृदय में संयम की बात को अधिक उद्वेलित करती है। सावद्य कार्य प्राणियों के लिए हितकर नहीं होता। संयम समता का राजमार्ग है। दस लाख गायों का दान देने वाले के लिए भी संयम ही श्रेयस्कर है। दान से संयम श्रेष्ठ है – इस भावना का स्पष्ट निर्देश नमि के संयमी जीवन से मिलता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब इन्द्र नमि को कोशागार का संवर्धन कर फिर दीक्षित होने के लिए कहते हैं 'कोसं वड्ढावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिआ।' (९/४६) तब संतोष के संवर्धन रूप आत्मधर्म की बात राजा के अनासक्त व्यक्तित्व का परिचय कराती है। राजा कहता है 'इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया' (९/४८) इच्छा आकाश के समान अनंत है। संतोष त्याग में है, भोग में नहीं। लोभी पुरूष को बहुत धन से भी कुछ नहीं होता। हमारी आवश्यकताएं तो सीमित हैं किन्तु आकाक्षांए विस्तृत हैं। इसलिए धन-धान्य से परिपूर्ण पृथ्वी भी यदि किसी को मिल जाए, तो भी उससे उसको परितोष नहीं होता। इस प्रकार राजा का अनासक्त चित्त किसी भी प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों में नहीं फंसता है, निर्लेपता का परिचय देता है।

सांसारिक जीवन का त्याग करने में तत्पर नमि की इन्द्र स्वयं परीक्षा करता है। पर वे संयम में अविचल भाव से रहे। उनके कषायों की उपशांतता को देख इन्द्र को भी कहना पड़ा कि तुमने क्रोध को जीता है, मान को पराजित किया है और लोभ को वश में किया है। आपकी क्षमाशीलता, निःसंगता आश्चर्यकर है। नमि अपनी आत्मा को संयम के प्रति समर्पित कर देता है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक के विविध गुण नमि के व्यक्तित्व में समाहित हैं, जो उन्हें आदर्श साधक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

इस प्रकार 'नमि पव्वज्जा' अध्ययन में नमि को सांसारिक आकर्षणों में लुभाने के प्रयास में परीक्षक की दृष्टि से दैविक पात्र इन्द्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन्द्र निजी संपत्ति, स्वजन तथा देशरक्षा के लिए, अपराधी व्यक्तियों का निग्रह, राजाओं पर विजय, कोशागार का संवर्धन आदि राज्यधर्म के विविध कर्त्तव्यों की नमि को याद दिलाता है। नमि उन कर्त्तव्यों के प्रतिपक्ष में आत्मधर्म की बात कर इन्द्र की परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। आखिर इन्द्र नमि की संयमी चेतना से प्रभावित हो मधुर शब्दों में स्तुति कर चला जाता है।

इन्द्र और नमि के बीच हुए संवाद से यहां धर्मदर्शन के तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रसंग संवाद शैली के माध्यम से धर्मदर्शन के तथ्यों का उद्घाटन करने वाले हैं। यथा— चित्त और संभूत (अध्ययन १३), भृगु और भृगुपुत्र (अध्ययन १४) केशीकुमार और श्रमण गौतम आदि (अध्ययन २३)।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मुनि हरिकेशी

जाति की उच्चता के अहंकार के कारण चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशी ने जातिस्मरण ज्ञान द्वारा जाति-मद का कुत्सित फल तथा स्वर्गीय सुखों की नश्वरता को भी देखा। 'संसार त्याज्य है' यह प्रतीति उसके भीतर वैराग्य भावना को उत्पन्न करती है। प्रव्रजित होकर हरिकेशी मुनि के रूप में जग-विश्रुत हुआ। मुनि हरिकेशी की चारित्रिक विशेषताएं उसके संयमी व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालती हैं–

आचारनिष्ठ

साधु का सर्वस्व आचार-पालन है। मुनि हरिकेशी श्रमण-धर्म के आचार का सम्यक् रूप से पालन करते थे। ईर्या, एषणा आदि समितियों में सतत सावधान थे। मन, वचन और काया से गुप्त तथा जितेन्द्रिय थे। उनके उपकरण और उपधि भी उनके श्रेष्ठ संयमी जीवन के परिचायक थे।

तपस्वी

तप में अचिन्त्य शक्ति व सामर्थ्य है। वह दूसरों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। हरिकेशी का तप अद्वितीय था। वे एक दिवसीय यावत् बढ़ते बढ़ते अर्द्धमासिक एवं मासिक उपवास क्रम द्वारा तप के अनुष्ठान में निरत रहते थे। 'तवेण परिसोसियं' (उत्तर, १२/४) तप से उनका शरीर भी कृश हो गया था। मासिक तपस्या के पारणे में भी स्वयं ही आहार की गवेषणा करते थे। उनके तप आदि गुणों से प्रभावित होकर मंडिक यक्ष अनवरत उनकी सेवा में संलग्न था। 'एसो हु सो उग्गतवो महप्पा' (उत्तर, १२/२२) भद्रा का यह कथन भी हरिकेशी के उग्र तपस्वी का ही सूचक है।

ब्रह्मचारी

राजा कौशलिक अपनी पुत्री भद्रा के पाणिग्रहण के लिए मुनि से प्रार्थना करता है। मुनि राजकन्या को अस्वीकार करते हुए कहते हैं – मैं सांसारिक भोग-वासनामय जीवन से सर्वथा निवृत्त हूं, संयमशील साधक हूं। मैं मन, वचन, शरीर से स्त्री का स्पर्श तक नहीं कर सकता। तुम्हारे साथ जो कुछ हुआ, वह तो यक्ष की करतूत है। सहज प्राप्त राजकन्या का परिहार मुनि के ब्रह्मचर्य व्रत के स्वीकरण का द्योतक है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम सहिष्णु

हरिकेशी एक मास के तप के पारणे हेतु भिक्षार्थ यज्ञशाला में उपस्थित हुए। जीर्ण तथा मैले वस्त्र देखकर ब्राह्मण उनका उपहास करने लगे। उन्होंने कहा – काए व आसा इहमागओ सि? यहां क्यों आये हो? निकल जाओ। वे इस उपहास को भी शांत भाव से सहनकर सहिष्णुता का परिचय देते हैं और 'न हु मुणी कोवपरा हवंति' इस उक्ति को चरितार्थ करते हैं।

हरिकेशी के विशेषण

कुल के परिचायक, सोवागकुलसंभूओ (चाण्डाल कुल में उत्पन्न), १२/१, लब्धिसंपन्न, आसीविसो (आशीविष लब्धि से संपन्न) १२/२७, चरित्र विधायक, गुणुत्तरधरो (ज्ञानादि गुणों का धारक) १२/१, जिइंदिओ (जितेन्द्रिय) १२/१, संजओ (संयमी) १२/२, सुसमाहिओ (समाधिस्थ) १२/२, मणगुत्तो (मन से गुप्त) १२/३,वयगुत्तो (वचन से गुप्त) १२/३, कायगुत्तो (शरीर से गुप्त) १२/३, समणो (श्रमण) १२/९, बंभयारी (ब्रह्मचारी) १२/९, उग्गतवो (उग्र तपस्वी) १२/२२, महप्पा (महात्मा) १२/२२, महाजसो (महान यशस्वी) १२/२३, महाणुभागो (अचिन्त्य शक्ति-संपन्न) १२/२३, घोरव्वओ (घोरव्रती) १२/२३, घोरपरक्कमो (घोर पराक्रमी) १२/२३, ये सभी विशेषण हरिकेशी के उत्कृष्ट चरित्र के संसूचक हैं।

हरिकेशी की उपरोक्त उदात्त चारित्रिक विशेषताएं आर्हत् जीवन-दर्शन के प्रतिपादन में उत्तराध्ययन के कवि को सफलता प्राप्त कराती है।

३. मृगापुत्र

उत्तराध्ययन में मृगापुत्र ऐसा पात्र है जिसने विवाह कर राज्यपद का भोग करने के पश्चात् संयम स्वीकार करके मोक्ष गति को प्राप्त किया। निमित्त बने एक संन्यासी, जिन्हें देखकर पूर्वजन्म की स्मृति हुई और दीक्षा के लिए माता-पिता से आज्ञा मांगी। 'अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो' (१९/१०) माता! मुझे अनुज्ञा दें, मैं प्रव्रजित होऊंगा। माता-पिता संयम जीवन की कठिनाइयों का वर्णन कर मनुष्य सम्बन्धी भोगों के भोग के लिए प्रेरित करते हैं, अनेक प्रयास करते हैं कि वह संयम ग्रहण न करे। किन्तु भावना की पुष्टि हेतु मृगापुत्र विविध तर्क देकर माता-पिता को आखिर यह कहने के लिए बाध्य कर देता है कि 'पुत्ता! जहासुहं' पुत्र! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो। यहां भावों

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सशक्त सम्प्रेषणीयता के लिए उत्तराध्ययन का कर्ता मृगापुत्र को उत्कृष्ट पात्र के रूप में उपस्थित करता है।

४. अनाथी

बिम्बात्मकता साहित्य का प्राण-तत्त्व है। अच्छा साहित्य वही है जिसके अध्ययन मात्र से वर्ण्य विषय रूपायित होने लगता है, उसका मानसिक प्रत्यक्ष होने लगता है। मगध सम्राट् श्रेणिक और मुनि अनाथी के बीच हुई वार्ता से अनाथी की अनाथता मगधाधिपति को भी अनाथता का मानसिक प्रत्यक्ष कराती है — 'अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया! मगहाहिवा।' (२०/१२)

श्रेणिक! तुम अनाथ हो, दूसरों के नाथ कैसे बनोगे? ऐसा अश्रुतपूर्व वचन सुनकर राजा आश्चर्यान्वित हो गया। पर जब मुनि अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति का वर्णन करते हैं तब राजा को वर्ण्य विषय की स्पष्टता हो जाती है। नृप स्वयं अनाथता का अनुभव कर मुनि से अनुशासित होने की [illegible] करता है। [illegible]ी के अकिञ्चन जीवन व अनासक्त चरित्र का राजा पर गहरा प्रभाव पड़ता है

५. अरिष्टनेमि

सोरियपुर नगर के समुद्रविजय राजा एवं शिवा रानी का पुत्र अरिष्टनेमि लोकनाथ एवं जितेन्द्रिय था। वे दूसरों का अकल्याण नहीं चाहते थे। छोटी सी कथा में अरिष्टनेमि के व्यक्तित्व पर गहरा प्रकाश पड़ता है –

शरीर संपदा के स्वामी

अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों (सौन्दर्य, गाम्भीर्य आदि) से युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणों के धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाले थे। (उत्तर. २२/५) उनका संहनन वज्र-ऋषभ-नाराच (सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन) तथा समचतुरस्र संस्थान था। उदर मछली के उदर जैसा था –

वज्जरिसहसंघयणो समचउरंसो झसोयरो। उत्तर. २२/६

इस प्रकार शुभ लक्षणों के धारक अरिष्टनेमि निश्चित रूप से शरीर सम्पदा के स्वामी हैं। विवाह के लिए जाते समय जब वासुदेव के ज्येष्ठ गन्धहस्ती पर आरूढ़ होते हैं, उस समय उनका शारीरिक सौन्दर्य और अधिक निखरता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणार्द्र हृदय

उत्तम ऋद्धि और द्युति के साथ विवाह के लिए प्रस्थित अरिष्टनेमि भय से संत्रस्त और पिंजरों में बंद प्राणियों को देखकर, सारथि से यह पता लगने पर कि ये जीव मेरे विवाह कार्य में लोगों का भोज्य बनेंगे – अत्यन्त उद्विग्न हो जीवों के प्रति करुणा से भावित महाप्रज्ञ ने चिंतन किया कि ऐसे विवाह से क्या, जो अनेक निरीह जीवों के वध का कारण बने। परलोक में यह मेरे लिए हितकर नहीं है –

जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई ॥ उत्तर. २२/१९

जीवों के आर्त्तनाद से द्रवित हो करुणेश लौट गए। 'उनके कर्ण दूसरों का अमंगल कर मंगल गीत सुनने को तैयार नहीं थे' इस कथ्य की विशद अभिव्यक्ति के लिए उत्तराध्ययनकार ने अरिष्टनेमि के चरित्र को उभारा है।

दमीश्वर

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से भावित होकर लोकनाथ अरिष्टनेमि ने राज्य के नश्वर सुखों का परित्याग किया। उनका विरक्त मन प्राणी मात्र के अनन्त सुख की अन्वेषणा के लिए तत्पर हुआ। वासुदेव ने इसका अनुमोदन करते हुए कहा –

इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसू तं दमीसरा ॥ उत्तर. २२/२५

दमीश्वर ! तुम अपने इच्छित मनोरथों को शीघ्र प्राप्त करो। स्वयं दीक्षित होकर बाईसवें तीर्थंकर के रूप में विश्व-विख्यात हुए।

अरिष्टनेमि के विशेषण

विशुद्धि के परिचायक :

लोगनाह (लोकनाथ) २२/४, दमीसरे (दमीश्वर) २२/४, महापन्ने (महाप्रज्ञ) २२/२५, साणुक्कोसे (सकरुण) २२/१८, महायशा (महान यश वाले) २२/२०, लुत्तकेसं (केशलुंचन) २२/२५, जिइंदियं (जितेन्द्रिय) २२/२५

गोत्र

गोयमो (गौतम) २२/५, वण्हिपुंगवो (वृष्णिपुंगव) २२/१३

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शारीरिक विशेषण

लक्खणस्सरसंजुओ (स्वर लक्षणों से युक्त) २२/५, अट्ठसहस्सलक्खणधरो (एक हजार आठ शुभ-लक्षणों का धारक) २२/५, कालगच्छवी (श्याम वर्ण वाला) २२/५,वज्जरिसहसंघयणो (वज्रऋषभ संहनन) २२/६, समचउरंसो (समचतुरस्र संस्थान) २२/६, झसोयरो (मछली के समान उदर वाला) २२/६, छत्तेण चामराहि य सोहिए (छत्र-चामर से सुशोभित) २२/११, दसारचक्केण परिवारिओ (दशारचक्र से घिरा हुआ) २२/११,

इस प्रकार अरिष्टनेमि स्वयं तो मोक्ष में प्रतिष्ठित होते ही हैं, भव्य जीवों का भी मार्ग प्रशस्त करते हैं।

६. राजीमती

'रहनेमिज्जं' अध्ययन का सर्वाधिक शौर्यवीर युक्त पात्र नायिका राजीमती है। राजसी वैभव में पली हुई, फिर भी परिस्थितियों के वात्याचक्र से सर्वथा अप्रभावित रहकर आदर्श पात्र के रूप में अपना परिचय देती है –

आदर्श राजकन्या

भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री यौवन-सौन्दर्य से परिपूर्ण थी। एक ही गाथा में उसके रूप-लावण्य का समग्र निर्देश उसकी शारीरिक तथा आत्मिक द्युति को प्रकट करता है। मानो 'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगात्'[४] की द्वितीय संरचना ही हो –

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्पमा॥ उत्तर. २२/७

वह राजकन्या सुशील, चारुप्रेक्षिणी, स्त्री जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी। राजीमती का यह रूप लावण्य मेघदूत की यक्षिणी और शाकुन्तलम् की शकुन्तला की याद दिलाता है –

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी,
मध्येक्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या तत्र स्यात् युवतिविषये: सृष्टिराद्यैव धातुः ॥[5]

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम् ॥[6]

यक्षिणी ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि थी तो राजीमती शकुन्तला की तरह निसर्ग रमणीया थी।

शोकातुर राजकन्या

शिवा के अंगज अरिष्टनेमि के साथ राजीमती का विवाह निश्चित होता है। राजकन्या राजकुमार के रूप-गुण से अभिभूत थी। विवाह से पूर्व भय से संत्रस्त वध्य पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर महाप्रज्ञ अरिष्टनेमि वापस मुड़ गये। प्रियतम के वापस मुड़ने तथा प्रव्रज्या की बात को सुनकर राजीमती शोक-स्तब्ध हो गई। वह उपने प्रियतम को आकृष्ट नहीं कर सकी और अपने जीवन को धिक्कारती हुई कहती है – 'धिरत्थु मम जीवियं।' उत्तर. २२/२९

त्यागसंपन्ना

व्यक्ति का मनोरथ जब अनायास ही धराशायी हो जाता है, तब वह संसार से विरक्त होकर तप, व्रत की ओर अग्रसर होता है। अरिष्टनेमि द्वारा परित्यक्त राजीमती तत्काल पति मार्ग का अनुसरण कर उत्कृष्ट त्यागभावना का परिचय देती है – 'सयमेव लुंचई केसे' राजीमती का यह रूप भव्य जीवों के लिए पथ-प्रदर्शक है। वासुदेव भी त्याग का अनुमोदन करते हुए आशीर्वाद-युक्त वाणी में राजीमती से कहते है –

संसार सागरं घोरं तर कन्ने ! लहुं लहुं ॥ उत्तर. २२/३१

शीलसंपन्ना

रैवतक पर्वत पर अरिष्टनेमि को वंदना करने जाती हुई राजीमती वर्षा से भीग जाती है। गुफा में वस्त्रों को सुखाती है। उसी गुफा में स्थित रथनेमि राजीमती को यथाजात अवस्था में देखता है। दमित कामवृत्ति जाग उठती है। काम वासना से पीड़ित रथनेमि याचना करता है –

'एहि ता भुंजिमो भोए माणुस्सं खु सुदुल्लहं' उत्तर . २२/३८

हिमालय की तरह संयम में स्थिर राजीमती गंभीर व प्रभावोत्पादक वाणी में संयम से विचलित रथनेमि को कठोर शब्दों में कहती है– हे यशः कामिन ! धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है। राजीमती के ये शब्द मम्मट की 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की बात को सार्थक करते हैं। उच्च वंश-परम्परा की ओर रथनेमि का ध्यान आकृष्ट कराकर स्थिर मन हो संयम का पालन करने की प्रेरणा देती है। अंकुश से हाथी की तरह संयम में स्थिर करती है। पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक संयमशील होती है – इस तथ्य के प्रकटीकरण के साथ राजीमती का उदात्त चरित्र यहां उजागर हुआ है। मानवीय दुर्बलता उन पर हावी नहीं होती है।

राजीमती के विशेषण

काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट, अध्ययन में प्रयुक्त लगभग अठारह विशेषणों का प्रयोग शीलसंपन्न राजीमती के चरित्र के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालता है–

शारीरिक दीप्ति के उद्घाटक विशेषण

चारु पेहिणी (चारुप्रेक्षिणी) २२/७, सव्वलक्खणसंपुन्ना (सर्वलक्षण सम्पन्न) २२/७, विज्जुसोयामणिप्पभा (चमकती बिजली के समान प्रभा वाली) २२/७, सुरूवे (सुरूप) २२/३७, सुयणू (सूतनू) २२/३७

उत्कृष्ट चरित्र के सूचक

सुसीला २२/७, लुत्तकेसं २२/३१, जिइंदियं २२/३१, सीलवंता २२/३२, बहुस्सुया २२/३२, चारुभासिणि २२/३७, संजयाए २२/४६,

उच्चवंश के प्रतिपादक

रायवरकन्ना (श्रेष्ठ राजकन्या) २२/७, रायकन्ना २२/२८

दुःख के द्योतक

निहासा २२/२८, निराणंदा २२/२८

धैर्य प्रतिपादक

धिइमंता २२/३०, ववस्सिया २२/३०

इस प्रकार पूरे अध्ययन में राजीमती संयम, शील, तप और व्रतों की आराधना में संलग्न दिखाई देती है और अंत में अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करती है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. रथनेमि

भगवान अरिष्टनेमि के अनुज रथनेमि थे। उनका चरित्र संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। 'रहनेमिज्जं' अध्ययन में रथनेमि को उद्‌बोधित करना आगमकार का मुख्य लक्ष्य है ही, साथ साथ कामवासना के जाल में फंसने वाले प्राणियों के भी उद्धार की कहानी है।

मनुष्य नैतिक और अनैतिक कार्यों से उठता है, गिरता है। चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रथनेमि एक ऐसा पात्र है जिसका जीवन द्वन्द्व से भरा है। जो पहले अरिष्टनेमि द्वारा वमित राजीमती से विवाह की इच्छा करता है किन्तु राजीमती के दीक्षित होने पर स्वयं भी दीक्षा ले लेता है। फिर पुनः राजीमती के रूप में आसक्त हो कामी जीवन की इच्छा करता है। राजीमती उसे संयम मार्ग में स्थिर करती है।

इस अध्ययन से द्वन्द्व से विकसित रथनेमि के चरित्र के दो पक्ष सामने आते हैं—

१. काम से पीड़ित होकर पतन के द्वार तक पहुंच जाना।

२. राजीमती से उद्‌बोध पाकर संयम में स्थिरीकरण द्वारा अनुत्तर-गति को प्राप्त करना।

कामी पुरूष

गुफा में राजीमती को यथाजात अवस्था में देखकर रथनेमि भग्नचित हो जाता है। वह कामान्ध ज्येष्ठ भ्राता द्वारा परित्यक्त राजीमती से निर्लज्ज होकर भोग की याचना करता है। दमित काम-वासना उभर आती है। तर्क-युक्त वाणी में कहता है — भद्रे ! मैं रथनेमि हूं। तू मुझे स्वीकार कर। तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी। हम भुक्त-भोगी हो फिर जिन मार्ग पर चलेंगे।

इस प्रकार एक कामी पुरुष के रूप में रथनेमि पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है।

जितेन्द्रिय

रथनेमि के चरित्र का दूसरा पक्ष है — राजीमती से उद्‌बोध पाकर संयम में स्थिरता और अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति।

प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित आदि उपदेशों की अपेक्षा कान्तासम्मित

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश विशेष प्रभावक होता है। इसी उपदेश से रथनेमि के चरित्र में उत्कृष्टता आती है, वे श्रामण्य में स्थिर होकर अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। यथा—

'यदि तू रूप से वैश्रमण है, साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती। धिक्कार है तुझे। इस प्रकार रागभाव करने से तू अस्थितात्मा हो जाएगा।' राजीमती के ये वचन रथनेमि को तीर की तरह लगते हैं। वह जितेन्द्रिय होकर श्रामण्य में स्थिर हो जाता है।

उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ उत्तर. २२/४८

रथनेमि के चरित्र का यह दूसरा पक्ष एक नारी द्वारा पुरुष में पौरुषत्व जगाकर लक्ष्य प्राप्ति कराने का सुंदर निदर्शन उपस्थित करता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन का प्रत्येक पात्र चरित्रगत विशिष्टता से पूर्ण है तथा अपनी लक्षित मंजिल को प्राप्त करके ही विराम लेता है।

सन्दर्भ :

१. डॉ. नगेन्द्र द्वारा अनुदित अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ. २२
२. गोस्वामी तुलसीदास, पत्र ५९ उद्धृत हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. २२८
३. महाजनक जातक, संख्या ५३९
४. अभिज्ञान शाकुन्तल, २/९
५. मेघदूत, २/२१
६. अभिज्ञान शाकुन्तल, १/१९

◆◆◆

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. उत्तराध्ययन की भाषिक संरचना

'भाषा' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। सामान्य रूप से भाषा उन सभी माध्यमों का बोध कराती है जिससे भावाभिव्यंजन का काम लिया जाता है। इस दृष्टि से पशु-पक्षियों की बोली भी भाषा है, इंगित भी भाषा है, सड़क की लाल-हरी बत्ती भी भाषा है और मनुष्य जो बोलता है वह भी भाषा है। जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते हैं, उस यादृच्छिक, रूढ़, ध्वनि-संकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।[१]

'भाष व्यक्तायां वाचि' धातु से भाषा शब्द निष्पन्न हुआ है। 'भाष्यते व्यक्तवाग्रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा' अर्थात् व्यक्त वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है उसे 'भाषा' कहते हैं। मुख्य रूप में भाषा शब्द से मानव द्वारा व्यक्त वाणी का ही ग्रहण होता है, क्योंकि व्यक्त भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावों को प्रकट किया जा सकता है।

भाषा के विशिष्ट ज्ञान को भाषा-विज्ञान कहते हैं। मूलतः भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।[२] भाषा विज्ञान के चार तत्त्व हैं—

१. ध्वनिविज्ञान (Phonology) २. पद-विज्ञान (Morphology)
३. वाक्य-विज्ञान (Syntax) ४. अर्थविज्ञान (Semantics)

१. ध्वनि

जो सुनाई देती है और जिससे शब्द-बिम्ब का निर्माण हो उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि-विज्ञान भाषा की विभिन्न ध्वनियों का ज्ञान कराता है तथा स्पष्ट उच्चारण की शिक्षा देता है। महाभाष्य प्रदीप टीका की उक्ति है— 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।' एक शब्द का शुद्ध ज्ञान और प्रयोग भी मनुष्य की स्वर्ग-प्राप्ति का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक होता है। इसलिए प्राचीन वैयाकरणों ने ध्वनि-उच्चारण को महत्त्व देते हुए कहा है –

यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्।।

व्याकरण और उच्चारण शिक्षा का बोध अवश्य होना चाहिए जिससे स्वजन (अपने सम्बन्धी) श्वजन (कुत्ते), सकल (सब) शकल (आधा) या सकृत् (एक बार) शकृत् (विष्ठा, मल) न हो जाए। ध्वनियों का प्राचीन वर्गीकरण स्वर और व्यंजन के रूप में प्राप्त होता है। स्वर वे ध्वनियां हैं जो स्वयं उच्चरित हो सकती हैं। व्यंजन का उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं हो सकता। पतञ्जलि ने लिखा है–'स्वयं राजन्ते इति स्वराः। अन्वग् भवति व्यंजनम् इति।'[३]

यूनानी वैयाकरण डायोनिशस थ्रेक्स ने भी स्वरों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है और व्यंजनों को स्वरों के अधीनस्थ माना है। किन्तु आधुनिक दृष्टि से यह परिभाषा सर्वथा ग्राह्य नहीं है। यथा–'स्वर' शब्द के 'स्' में कोई स्वर नहीं है फिर भी उच्चारण में अस्पष्टता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उच्चारण के लिए स्वर की सहायता अनिवार्य नहीं है। आधुनिक दृष्टि से 'स्वर' वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं कोई अवरोध नहीं होता। 'व्यंजन' वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं न कहीं अवरोध होता है।[४]

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। प्रत्येक वस्तु संसरणशील है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। प्राकृत भाषा में भी ध्वनि-परिवर्तन की सभी स्थितियां वर्तमान हैं। इनके वैयाकरणों ने ध्वनि परिवर्तन का विवेचन स्पष्टता के साथ किया है। परिवर्तन का मुख्य कारण प्रयत्नलाघव या मुख-सुख है।

प्रस्तुत प्रसंग में ध्वनि-परिवर्तन का विवेचन उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में वांछनीय है।

प्राकृत में स्वर

प्राकृत स्वर-ध्वनियों में मुख्यतः आठ स्वर स्वीकृत हैं–

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए और ओ।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में स्वर-परिवर्तन

अ का परिवर्तन निम्न रूपों में प्राप्त है –

अ > आ

चतुंरतः > चाउरंते (११/२२)
नश्यन्ति > नासइ (१४/१८)

अ > इ

महर्द्धिकः > महिड्ढिए (१/४८)
वज्र > वइर (१९/५०)
गृहलिंगाः > गिहिलिंगे (३६/४९)
मध्यमयोः > मज्झिमाइ (३६/५०)
चरमान्ते > चरिमंते (३६/५९)

अ > ई

ईषत्प्राग्भार > ईसीपब्भार (३६/५७)

अ > उ

श्मशाने > सुसाणे (२/२०)
सर्वज्ञः > सव्वण्णू (२३/७८)
कथय > कहसु (२३/७९)
वक्ष्यामि > वुच्छामि (३६/४७)

अ > ए

शय्याभिः > सेज्जाहिं (२/२२)
अन्तःपुरम् > अंतेउरं (९/१२)
अत्र > एत्थ (१२/१८)
ब्रह्मचर्य > बंभचेर (१६/१)
अधः > अहे (३६/५०)

अ > लुक्

अरण्ये > रण्णे (१४/४२)

आ का परिवर्तन

आ > अ

नास्ति > नत्थि (१४/१५)
ताम्र > तंब (१९/६८)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग > मग्गं (२०/५१)

स्नापितः > ण्हविओ (२२/९)

दुष्टाश्वः > दुट्ठस्सो (२३/५८)

द्वितीयाम् > बीयं (२६/१२)

तथा > तह (२८/३२)

आ > ए

पुरा > पुरे (१४/१)

आ > उ

आर्द्रः > उल्लो (२५/४०)

इ का परिवर्तन

इ > अ

पृथिवी > पुढवी (३६/६०)

इ > ई

उदधिः > उदही (११/३०)

असिभिः > असीहि (१९/५५)

इ > उ

द्विधा > दुहओ (७/१७)

इषुकार > उसुयार (१४/१)

द्विमुखः > दुम्मुहो (१८/४५)

द्विविधाः > दुविहा (३६/४८)

इ > ए

चिकित्सां > तेगिच्छं (२/३३)

ई का परिवर्तन

ई > इ

तीर्णः > तिण्णो (१०/३४)

क्रीडाम् > किड्डं (१६/६)

तीक्ष्ण > तिक्ख (१९/५२)

क्षीयते > झिज्जइ (२०/४९)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयायाम् > तइयाए (२६/१२)

ई > उ

विहीनम् > विहूणं (२८/२९)

ई > ए

ईदृशम् > एरिसं (१२/११)

कीदृशः > केरिसो (२३/११)

उ का परिवर्तन

उ > अ

कुत्र > कत्थ (३६/५५)

उ > इ

पुरुषेषु > पुरिसेसु (३६/५१)

उ > ओ

श्रुत्वा > सोच्चाणं (२/२५)

कुतूहल > कोऊहल (२०/४५)

पुष्करिणी > पोक्खरिणी (३२/३४)

ऊ का परिवर्तन

ऊ > इ

ब्रूतो > बिंत (१९/४४)

ऊ > उ

शून्यागारे > सुन्नगारे (२/२०)

पूर्णा > पुण्णा (११/३१)

षट्पूर्वा > छप्पुरिमा (२६/२५)

ऊर्ध्वम् > उड्ढं (३६/५०)

ऐ और औ का परिवर्तन

ऐ > ए

आभरणैः > आभरणेहिं (२२/९)

सुखैषिणः > सुहेसिणो (२२/१६)

पञ्जरैः > पंजरेहिं (२२/१६)

वैश्रमणः > वेसमणो (२२/४१)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐ > इ

चैत्राश्विनयोः > चित्तासोएसु (२६/१३)

ऐ > अइ

वैदेहीम् > वइदेही (९/६१)

औ > ओ

सर्वौषधिभिः > सव्वोसहीहि (२२/९)

कौतुक > कोउय (२२/९)

पौषे > पोसे (२६/१३)

अवमौदर्यम् > ओमोयरियं (३०/१४)

औ > उ

रौद्रे > रुद्दाणि (३०/३५)

'ऋ' का परिवर्तन

प्राकृत भाषा में 'ऋ' स्वर का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता है फिर भी प्राकृत भाषा-वैज्ञानिकों एवं वैयाकरणों के मध्य यह चर्चित रहा है। जब संस्कृत के रूपों का ध्वनि-परिवर्तन कर उसे प्राकृत रूप दिया जाता है तब वहां 'ऋ' का अनेक रूपों में परिवर्तन प्राप्त होता है। यथा –

ऋ > अ

सुहृतम् > सुहडे (१/३६)

मृतम् > मडे (१/३६)

सुकृतम् > सुकयं (१/४४)

घृतसिक्तः > घयसित्त (३/१२)

कृतानाम् > कडाण (४/३)

कृताञ्जलिः > कयंजली (२०/५४)

ऋ > आ

कृत्वा > काउं (२२/३५)

ऋ > इ

परिगृह्य > परिगिज्झ (१/४३)

कृत्यानाम् > किच्चाणं (१/४५)

पृष्ठतः > पिट्ठओ (२/१५)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहवासे > गिहवासे (५/२४)

ऋद्धिमन्तः > इड्ढिमंता (५/२७)

रसगृद्धः > रसगिद्धे (८/११)

ऋषिं > इसिं (१२/३०)

मृगः > मिगे (३२/३७)

ऋ > उ

मृषा > मुसं (१/२४)

संवृतः > संवुडे (५/२५)

पृथिवी > पुढवी (९/४९)

ऋजुकृतः > उज्जुकडे (१५/१)

मृषावादी > मुसावाई (७/५)

पृथक्त्वं > पुहत्तं (२८/१३)

ऋ > ऊ

परिवृढः > परिवूढे (७/२)

उपबृंहा > उववूह (२८/३१)

ऋ > ओ

मृषा > मोसस्स (३२/३१)

ऋ > लि

अतादृशे > अतालिसे (३२/९१)

आगमकार का यह नया ही प्रयोग है।

ऋ > ढि

अनादृतस्य > अणाढियस्स (११/२७)

ऋ > रि

सदृशः > सरिसो (२/२४)

वज्रऋषभ > वज्जरिसह (२२/६)

एतादृश्या > एयारिसीए (२२/१३)

कीदृशः > केरिसो (२३/११)

उपर्युक्त स्वर-परिवर्तन को गुणात्मक और मात्रात्मक परिवर्तन, स्वर-लोप तथा स्वरागम के रूप में भी जाना जा सकता है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंजन

व्यंजन की दृष्टि से प्राकृत में श, ष, विसर्ग नहीं होते। ङ, ञ अपने वर्ग के व्यंजन के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार प्राकृत में २५ स्पर्शवर्ण, ४ अन्तस्थवर्ण, २ उष्मवर्ण और अनुस्वार स्वीकृत हैं। व्यंजन की दो स्थितियां हैं–

१. संयुक्त व्यंजन, २. असंयुक्त व्यंजन

संयुक्त व्यंजन

जिन दो या दो से अधिक व्यंजनों के मध्य स्वर न हो उसे संयुक्त व्यंजन कहते हैं। प्राकृत में संयुक्त व्यंजन कुछ नियमों से आबद्ध हैं–

१. दो से अधिक संयुक्त व्यंजन नहीं रहते।
२. दो महाप्राण एक साथ प्रयुक्त नहीं होते।
३. अघोष अल्पप्राण घोष अल्पप्राण का संयुक्त प्रयोग नहीं होता। जैसे–क्ग्, च्ज्।
४. अघोष अल्पप्राण घोष महाप्राण के साथ भी प्रयुक्त नहीं होता। जैसे–क्घ्, च्झ्
५. घोष अल्पप्राण घोष महाप्राण के साथ और अघोष अल्पप्राण अघोष के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। यथा क्ख्, ज्झ्।

संयुक्त व्यंजन की तीन स्थितियां हैं–

१. आदि स्थित सयुंक्त व्यंजन

प्राकृत में आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं पाए जाते। अपवाद के रूप में ण्ह, म्ह आदि का प्रयोग भी मिलता है। आदि स्थित संयुक्त व्यंजनों में परिवर्तन–

स्यात्	>	सिया	(१/४०)
ग्लानः	>	गिलाणो	(५/११)
स्नेहम्	>	सिणेहं	(६/४)
स्तेनः	>	तेणे	(७/५)
स्तुति	>	थुइ	(२६/४२)
स्वाध्यायेन	>	सज्झाएणं	(२९/१९)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रीणाम्	>	इत्थीण	(३२/१४)
व्यवस्येत्	>	ववस्से	(३२/१४)
क्लेश	>	किलेस	(३२/३२)

२ मध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन

ज्ञात्वा	>	नच्चा	(१/४५)
पूज्यशास्त्रः	>	पुज्जसत्थे	(१/४७)
लब्ध्वा	>	लद्धुं	(२/२३)
निर्जरा	>	निज्जरा	(२/३७)
कर्माणि	>	कम्मा	(३/२)
पुष्प	>	पुप्फ	(९/९)
विद्यते	>	विज्जई	(९/१५)
भद्रम्	>	भद्दं	(९/१६)
पार्थिवाः	>	पत्थिवा	(९/३२)
उत्कर्षम्	>	उक्कोसं	(१०/११)
मिथ्यात्व	>	मिच्छत्त	(१०/१९)
विध्वंशः	>	विद्धंसे	(११/२४)
मद्यम्	>	मज्झं	(१२/१२)
तत्र	>	तत्थ	(१२/१९)
शीतोष्णम्	>	सीउण्हं	(१५/४)
चरित्रम्	>	चरित्तं	(२८/२९)
नास्ति	>	नत्थि	(२८/३०)
सूक्ष्मम्	>	सुहुमं	(२८/३२)
कर्वट	>	कब्बड	(३०/१६)
कल्पते	>	कप्पइ	(३०/१८)
ध्यान	>	झाण	(३२/१५)
विभक्तिम्	>	विभत्तिं	(३६/४७)
सिध्यति	>	सिज्झई	(३६/५२)
क्व	>	कहिं	(३६/५५)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. संयुक्त व्यंजनों को असंयुक्त बनाने के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग किया जाता है। यथा–

श्मशाने	>	सुसाणे	(२/२०)
स्मृत्वा	>	सरित्तु	(९/२)
स्वपिति	>	सुवइ	(१७/३)
स्त्री	>	इत्थी	(३०/२२)
धर्षयति	>	धरिसेइ	(३२/१२)
आर्य	>	आरिय	(३२/१५)
अर्हा	>	अरिहा	(३६/२६२)

असंयुक्त व्यंजन

असंयुक्त-व्यंजन-परिवर्तन को भी तीन रूपों में देख सकते हैं–

१. आदि-स्थित

प्रासुकम्	>	फासुयं	(१/३४)
चिकित्सां	>	तेगिच्छं	(२/३३)
यक्ष	>	जक्ख	(५/२४)
दहन्ति	>	डहंति	(२३/५३)
उक्तः	>	वुत्ते	(२३/५७)
यतिः	>	जई	(२४/१२)
षड्विधम्	>	छव्विहो	(३०/१०)
ये	>	जे	(३२/२१)

२. मध्य-स्थित

१. महाप्राण असंयुक्त व्यंजन (ख, घ, थ, ध, भ) प्रायः ह में बदलता है।

२. क, ग, च, ज, त, द, प, य, व का प्रायः लोप देखा जाता है।

३. प > व में, ट > ड में, ठ > ढ में, ड > ल में प्रायः परिवर्तित होता है। यथा–

विषमम्	>	विसमं	(५/१४)
सलोकताम्	>	सलोगयं	(५/२४)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुत्तरज्ञानी	>	अणुत्तरनाणी	(६/१७)
एडकम्	>	एलयं	(७/१)
विपुले	>	विउले	(७/२)
आवेशे	>	आएसे	(७/३)
विलोपकः	>	विलोवए	(७/५)
अज	>	अय	(७/९)
शठः	>	सढे	(७/१७)
सुकुमारम्	>	सुकुमालं	(२०/४)
लोकपूजितः	>	लोगपूइओ	(२३/१)
अवधिज्ञान	>	ओहिनाण	(२३/३)
अथ	>	अह	(२३/१४)
प्रथमाम्	>	पढमं	(२६/१२)
प्रतिमासु	>	पडिमासु	(३१/११)
यतते	>	जयई	(३१/१४)
सूत्रकृतेषु	>	सूयगडे	(३१/१६)
दशादीनाम्	>	दसाइणं	(३१/१७)
लोभः	>	लोहो	(३२/८)
वसतिः	>	वसही	(३२/१३)
दुःखित	>	दुहिओ	(३२/३१)
वियोगे	>	विओगे	(३२/९३)
शृङ्गरीट्यः	>	सिंगिरीडी	(३६/१४७)

अन्त्य-स्थित

१. अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।

२. अन्त्यव्यंजन को अनुस्वार हो जाता है।

३. अन्तिम व्यंजन स्वरान्त कर दिया जाता है।

उदाहरण स्वरूप—

लोप

कुत्रचित्	>	कत्थई	(२/२७)
क्वचित्	>	कण्हुई	(२/४६)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदाचित्	>	कयाइ	(३/७)
तस्मात्	>	तम्हा	(६/१२)
बलात्	>	बला	(१९/५८)
पश्चात्	>	पच्छा	(२९/२९)

अनुस्वार

न् को अनुस्वार–आयुष्मन् > आउसं (२९/१)

म् को अनुस्वार – जनम् > जणं (२२/१७)

अन्य व्यंजन को भी कभी-कभी अनुस्वार हो जाता है–

सम्यग्	>	सम्मं	(२४/२७)

स्वरान्त

पृथग्	>	पुढो	(३/२)
आपद्	>	आवई	(७/१७)

समीकरण (Assimilation)

दो विषम ध्वनियों के एकत्र होने पर एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करके अपने सदृश बना लेती है, उच्चारण सौकर्य के लिए विषमवर्गीय व्यंजन समवर्ग में परिवर्तित हो जाते हैं, इसे ही समीकरण या समीभवन कहते है। समीकरण तीन प्रकार के हैं–

१. पुरोगामी समीकरण (Progressive Assimilation)

संयुक्त व्यजंनों में पूर्ववर्ती ध्वनि पश्चाद्वर्ती ध्वनि को प्रभावित कर अपने सदृश बना लेती है, यह पुरोगामी समीकरण है। जैसे–

कल्याणम्	>	कल्लाण	(१/३९)
हिरण्यम्	>	हिरण्णं	(९/४६)
अब्रवीत्	>	अब्बवी	(२३/६७)
क्षिप्रम्	>	खिप्पं	(२४/२७)
मन्ये	>	मन्ने	(२७/१२)
चरित्र	>	चरित्त	(२९/१५)
इत्वरिकम्	>	इत्तिरिया	(३०/९)
दवाग्निः	>	दवग्गी	(३२/११)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. पश्चगामी समीकरण (Regressive Assimilation)

इसमें परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि को अपने समान बना लेती है। जैसे–

अर्थम्	>	अत्थं	(१/२३)
मुक्तिः	>	मुत्ति	(९/५७)
प्रतिपूर्णम्	>	पडिपुण्णं (९/४९)	
उत्पतितः	>	उप्पइओ	(९/६०)
धर्मः	>	धम्मो	(२३/६८)
उद्गतः	>	उग्गओ	(२३/७६)
निर्गता	>	निग्गया	(२७/१२)

३. मिथोगामी समीकरण (Mutual Assimilation)

संयुक्त व्यंजनों में दोनों व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, इससे उनके स्थान पर एक नया ही युग्म या एकल व्यंजन आ जाता है, वह मिथोगामी समीकरण है। यथा –

आत्मार्थम्	>	अप्पणट्ठा	(१/२५)
कृत्यानाम्	>	किच्चाणं	(१/४५)
मृत्युना	>	मच्चुणा	(१४/२३)
प्रज्ञा	>	पण्णा	(२३/६४)
पर्यवचरकः	>	पज्जवचरओ	(३०/२४)
शय्या	>	सेज्जा	(३२/१२)
ध्यान	>	झाण	(३२/१५)

विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण का विपरीत है। दो सम ध्वनियों के होने पर भी कभी-कभी एक ध्वनि विषम हो जाती है, उसे विषमीकरण कहते हैं। उच्चारण की सुविधा व अर्थ की स्पष्टता के लिए ऐसा किया जाता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

लोकः	>	लोगो	(१४/२२)
चपेटाम्	>	चवेडं	(१९/६७)
कूटकार्षापणः	>	कूडकहावणे	(२०/४२)
याजकः	>	जायगो	(२५/६)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम (Augment)

उच्चारण की सुविधा के लिए शब्दों के आदि, मध्य या अन्त में कुछ ध्वनियों का सन्निवेश किया जाता है, उन्हें आगम कहते हैं। 'मित्रवदागमः'[५] आगम मित्रवत् होता है। इसके तीन भेद हैं–

१. आदि स्वरागम

शब्द के आदि में होने वाले स्वर के आगम को आदि स्वरागम कहा जाता है।

स्त्री > इत्थी (७/६)

२. मध्य स्वरागम (स्वरभक्ति) (Anaptyxis)

संयुक्त व्यंजन में एक व्यंजन य, र, ल, व और ह हो या अनुनासिक हो उन्हें अ, इ, ई और उ में से किसी एक स्वर का आगम कर उस संयुक्त व्यंजन को सरल बना दिया जाता है, इसे स्वरभक्ति, विप्रकर्ष, विश्लेष या स्वरविक्षेप कहते हैं। उदाहरण–

गर्हाम्	>	गरहं	(१/४२)
छद्म	>	छउमं	(२/४३)
कृत्स्नम्	>	कसिणं	(८/१६)
इर्याम्	>	इरियं	(९/२१)
राजर्षिम्	>	रायरिसिं	(९/३१)
भार्या	>	भारिया	(२०/२८)
मर्षय	>	मरिसेहि	(२०/५७)
आर्य	>	आरिय	(३२/१५)

३. अन्त्य-स्वरागम

इसमें सुविधा के लिए अंत में स्वर का आगम कर दिया जाता है। यथा–

अर्हन्	>	अरहा	(६/१७)
उदाहृतवान्	>	उदाहु	(६/१७)
आपद्	>	आवई	(७/१७)
बहिः	>	बहिया	(२५/३)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोप (Elision)

मुख-सुख, प्रयत्नलाघव या उच्चारण में शीघ्रता, स्वराघात आदि के कारण कभी-कभी कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप तीन प्रकार के हैं–

स्वरलोप–इसका प्रभाव प्रायः अव्ययों में देखा जाता है। यथा –

अरण्ये	>	रण्णे	(१४/४२)
अपि	>	वि	(३३/१८)
इति	>	त्ति	(३४/६१)

२. व्यंजनलोप

श्मशाने	>	सुसाणे	(२/२०)
केचित्	>	केई	(६/११)
किंचित्	>	किंचि	(९/४८)

३. अक्षरलोप

उल्लिखितः	>	उल्लिओ	(१९/६४)
व्यवदानम्	>	वोदाणं	(२९/२८)

महाप्राणीकरण (Aspiration)

अल्पप्राण ध्वनियों का महाप्राण में परिवर्तन महाप्राणीकरण कहलाता है। उदाहरण रूप में–

स्पर्शतः	>	फासओ	(१/३३)
पुरुषः	>	फुरुसा	(२/२५)
वसतिम्	>	वसहिं	(१४/४८)
पाटितः	>	फालिओ	(१९/६४)
अश्वा	>	अस्सा	(२०/१४)
प्रासुके	>	फासुए	(२५/३)
संस्तारे	>	संथारे	(२५/३)

घोषीकरण (Vocalization)

घोषीकरण में अघोष ध्वनियों को घोष कर दिया जाता है। जैसे–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापदृष्टिः	>	पावदिट्ठी	(१/३९)
कुपितम्	>	कुवियं	(१/४१)
प्रांजलिपुटः	>	पंजलिउडो	(१/४१)
शठः	>	सढे	(७/५)
दुःखसंबद्धा	>	दुहसंबद्धा	(१९/७१)
यथास्फुटम्	>	जहाफुडं	(१९/७६)
श्रृणुत	>	सुणेह	(३६/१३६)

अघोषीकरण (De-vocalization)

इसमें घोष ध्वनियां अघोष का रूप धारण कर लेती है। यथा–

चरिष्यावः	>	चरिस्सामु	(१४/७)
प्राप्नोति	>	पप्पोति	(१४/१४)
लालप्यमानम्	>	लालप्पमाणं	(१४/१५)
अन्तर्मुहूर्त्तम्	>	अंतोमुहुत्तं	(३६/१४२)

ऊष्मीकरण (Assibilation)

ऊष्मीकरण में कुछ ध्वनियों को ऊष्म ध्वनि में परिवर्तित कर दिया जाता है।

मानुष्यम्	>	माणुस्सं	(२०/११)
यथाज्ञातम्	>	जहानायं	(२३/३८)
यस्य	>	जस्स	(३२/८)
सुखम्	>	सुहं	(३३/५४)
अनेकधा	>	णेगहा	(३६/१४९)
जघन्यका	>	जहन्निया	(३६/१५१)

तालव्यीकरण

किसी वर्ण का तालव्य ध्वनि में परिवर्तित होना तालव्यीकरण है। यथा–

भूतानां	>	भूयाणं	(१/४५)
महाद्युतिः	>	महज्जुई	(१/४७)
कृत्यते	>	किच्चइ	(४/३)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहिसुव्रताः > गिहिसुव्वया (७/२०)
पादौ > पाए (२०/७)

मूर्धन्यीकरण

मूर्धन्य भिन्न कोई भी ध्वनि यदि मूर्धन्य-ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है उसे मूर्धन्यीकरण कहा जाता है। जैसे–

ऋजुकृतः > उज्जुकडे (१५/१)
दृष्टाः > दिट्ठा (१५/१०)
जानामि > जाणामि (१७/२)
अनर्था > अणट्ठा (१८/३०)
प्रतीत्य > पडुच्च (३६/१४०)
आर्त्त > अट्ट (३०/३५)

दन्त्यीकरण

किसी ध्वनि का दन्त्य ध्वनि में परिवर्तन दन्त्यीकरण है। ऌ दन्त्य स्वर है। प्राकृत में इसका अस्तित्व नहीं है।

पात्रम् > पत्तं (६/१५)
एडकः > एलए (७/७)
पुत्रम् > पुत्तं (१८/३७)
अतीर्षुः > अतरिंसु (१८/५२)

ओष्ठ्यीकरण

ओष्ठ्य भिन्न ध्वनि का ओष्ठ्य ध्वनि में परिवर्तन ओष्ठ्यीकरण कहलाता है।

पृथिवी > पुढवी (९/४९)
प्राप्य > पप्प (३६/१४०)
सर्वे > सव्वे (३६/१४९)

स्वराघात

स्वराघात का ध्वनिशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वराघात ही ध्वनि के आरोह-अवरोह को प्रदर्शित करता है। अक्षर या अक्षर-समूह के उच्चारण दबाव के कारण अक्षर या अक्षर-समूह विशिष्ट हो जाते हैं, उसे स्वराघात

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। यह नियत अक्षर के लिए निश्चित भी हो सकता है और स्वतंत्र भी हो सकता है। इसके कारण शब्दों में मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। उत्तराध्ययन में स्वराघात के कारण परिवर्तन के कुछ उदाहरण–

मात्रात्मक परिवर्तन

जब स्वराघात कोई शब्दांश विशेष पर होता है तो उसके पूर्ववर्ती या पश्चात्वर्ती स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो जाता है–

आनुपूर्व्या	>	आणुपुव्विं	(१/१)
आत्मनः	>	अप्पणो	(१/६)
मनुष्याः	>	मणूसा	(४/२)
विश्वस्यात्	>	वीससे	(४/६)
मुहूर्त्ता	>	मुहुत्ता	(४/६)
स्पर्शा	>	फासा	(४/१२)
कान्दर्पी	>	कंदप्पं	(३६/२६३)
भावनां	>	भावणं	(३६/२६३)
धर्माचार्यस्य	>	धम्मायरियस्स	(३६/२६५)

गुणात्मक परिवर्तन

स्वरों के उच्चारण स्थान में परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है। यथा–

बृंहयिता	>	बूहइत्ता	(४/७)
पौरुषीं	>	पोरिसिं	(२६/१२)
द्विपदा	>	दुपया	(२६/१३)
मृदुमार्दव	>	मिउमद्दव	(२७/१७)
म्रियन्ते	>	मरंति	(३६/२५८)

२. पद

भाषा का आधार वाक्य है। वाक्य का आधार शब्द है। सार्थक शब्द की पद संज्ञा होती है। 'सुप्तिङन्तं पदम्'[६] अर्थात् सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं। शब्द या धातु से विशेष अर्थ के बोधक सुप् या तिङ् आदि प्रत्यय लगाने पर प्रयोग के योग्य पद या रूप बनते हैं। महाभाष्य के अनुसार–'न

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्यय।' 'अपदं न प्रयुञ्जीत।'[७] न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का। अपद (शब्द को पद बनाए बिना) का प्रयोग न करें।

यास्क ने निरुक्त में पद को चार भागों में विभक्त किया है[८]–

१. नाम–संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण।
२. आख्यात–क्रिया।
३. उपसर्ग–प्र, परा, अनु, उप आदि।
४. निपात–अव्यय शब्द (च, वा आदि)।

नाम

बिना पद के कोई भी शब्द प्रयुक्त नहीं होता। प्राकृत में सर्वत्र सार्थक शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। पद बनाने के लिए विभक्ति के प्रसंग में अर्धमागधी प्राकृत और दूसरी प्राकृतों की विभक्तियों में बहुत अन्तर नहीं है। अर्धमागधी में प्रथमा विभक्ति एकवचन में एकार भी मिलता है। इसका कारण अर्धमागधी पर मागधी का प्रभाव ही लगता है। आगमों में भी लगभग सभी कारक विभक्तियां प्रयुक्त हुई हैं। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त सार्थक संज्ञा शब्दों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं–

प्र. विभक्ति	हरियाले (३६/७४), जयघोसे (२५/१)
द्वि. वि.	सामायारिं (२६/१), असमाहिं (२७/३)
तृ. वि.	कोहविजएणं (२९/६८), सामाइएणं (२९/९)
ष. वि.	दुक्खस्स (३२/१११), मोसस्स (३२/९६)
स. वि.	संसारे (३३/१), समुद्दंमि (२१/४)
संबोधन	गोयम! (२३/३४), मुणी! (२३/४१)

सर्वनाम

मे	(२०/१)
मज्झ	(२०/९)
सा	(२२/४०)
अहं	(२२/३७)
सो	(२५/९)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषण

तवोधणे	(१८/४)
पभूयरयणो	(२०/२)
महप्पणो	(२१/१)
रायलक्खणसंजुए	(२२/१)

क्रिया

संस्कृत की क्रिया व्यवस्था जटिल है, प्राकृत की अत्यन्त सरल है। प्राकृत भाषा में क्रिया सम्बन्धी वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं–

१. प्राकृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद नहीं होता।
२. प्राकृत में सभी धातुएं स्वरान्त ही होती हैं।
३. धातु द्वित्व नहीं होती।
४. दस लकार नहीं होते।
५. गण एक ही होता है।

आगमों में कहीं-कहीं संस्कृत का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। यथा–

अब्रवीत् > अब्बवी

उत्तराध्ययन में तीनों पुरुषों के एकवचन, बहुवचन में क्रिया का प्रयोग हुआ है–

जणयइ	(२९/७१)
भवे	(३०/९)
सुणेह	(३२/१)
वयंति	(३२/७)
वोच्छामि	(३३/१)

उपसर्ग

उपसर्ग का प्रयोग भी उत्तराध्ययन में कई जगह हुआ है–

समभिद्दवंति	(३२/१०)
पदुट्ठचित्तो	(३२/३३)
विमुच्चई	(३२/४३)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्यय

उत्तराध्ययन में प्रयुक्त अव्यय इस प्रकार हैं–

तत्तो (ततः)	(३०/११)
अहवा	(३०/१३)
तत्थ	(३२/३२)
व (इव)	(३२/३७)

पद के तीन भेद भी किये जा सकते हैं–१. तत्सम २. तद्भव और ३. देश्य

शब्द प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न है या नहीं, इस आधार पर इनका विभाग किया जा सकता है। संस्कृत में शब्दों के दो विभाग किए गए हैं–व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न। व्याकरण के नियमों से सिद्ध होने वाले शब्द व्युत्पन्न तथा व्याकरण सम्मत न होकर लोक-परम्परा या व्यवहार से सिद्ध होने वाले शब्द अव्युत्पन्न कहलाते हैं। त्रिविक्रमदेव ने प्राकृत शब्दों के तीन प्रकार बताए हैं–तत्सम, तद्भव और देश्य।[९]

१. तत्सम

संस्कृत के समान शब्द 'तत्सम' कहलाते हैं। ये बिना किसी रूप-परिवर्तन के प्राकृत में प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतसम[१०] और तत्तुल्य[११] शब्द इसी के वाचक हैं।

२. तद्भव

संस्कृत की प्रवृत्ति से सिद्ध शब्द 'तद्भव' है। ये शब्द वर्णागम, वर्णविकार, ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारण अपना रूप बदल देते हैं। हेमचन्द्र ने इसके लिए संस्कृतयोनि' शब्द का प्रयोग किया है।[१२]

३. देश्य

देश्य शब्द व्युत्पत्ति-सिद्ध नहीं होते। आचार्य हेमचन्द्र ने देशी शब्द की सार्थक एवं व्यापक परिभाषा दी –

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा।।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देस विसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी॥[१३]

जो शब्द व्याकरण ग्रंथों में प्रकृति, प्रत्यय द्वारा सिद्ध नहीं हैं, व्याकरण से सिद्ध होने पर भी संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं तथा जो शब्द लक्षणा आदि शब्द-शक्तियों द्वारा दुर्बोध हैं और अनादिकाल से लोकभाषा में प्रचलित हैं, वे सब देशी हैं। महाराष्ट्र, विदर्भ आदि नाना देशों में बोली जाने वाली भाषाएं अनेक होने से देशी शब्द भी अनंत हैं।

उत्तराध्ययन के कर्ता ने तीनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है।

तत्सम

खलु	(१/१५)
वरं	(१/१६)
संसारे	(३/२)
देव	(९/१)
दारुणा	(९/७)
नीला	(३६/७२)

तद्भव

पक्खपिण्डं	(१/१९)
हिच्चा	(३/२३)
वड्ढइ	(३२/३०)
सदावरी	(३६/१३८)

देश्य

आगम-साहित्य शब्दों का भंडार है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इसके शब्द तुलनीय एवं विमर्शनीय हैं। प्राकृत के अध्ययन के लिए भी देशी शब्दों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। उत्तराध्ययन में समागत अनेक देशी शब्द अर्वाचीन हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल,तेलगु भाषा के शब्दों से भी तुलनीय हैं। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त देश्य शब्द हैं –

खुड्डेहिं	(१/९) छोटा
आहच्च	(१/११, ३/९) सहसा, कदाचित्

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खड्डुया	(१/३८) ठोकर मारने
दिगिंछा	(२/२) क्षुधा
वियडस्स	(२/४) प्रासुक जल
अदु	(२/२३) अथवा
जल्लं	(२/३७) स्वेद-जनित मैल
बोक्कसो	(३/४) बोक्कस (वर्णशंकर जाति)
परज्झा	(४/१३) परतंत्र
बालग्गपोइयाओ	(९/२४) चन्द्रशाला
ओस	(१०/२) ओस
अचियत्ते	(११/९) अप्रीतिकर
फोक्क	(१२/६) उभरा हुआ मोटा नाक
खलाहि	(१२/७) चला जा
धणियं	(१३/२) प्रचुर
उराला	(१५/१४) ऊंचे स्वर में, भयंकर
खिंसई	(१७/४) निंदा करता है
दवदवस्स	(१७/८) द्रुतगति से
अप्फोव	(१८/५) लता
कोत्थलो	(१९/४०) वस्त्र का थैला
रोज्झो	(१९/५६) रोझ
मुसंढीहिं	(१९/६१) मुसुण्डियों से (लोहमय गोल कांटों से जटित दारुमय प्रहरण-विशेष)
नवरं	(१९/७५) अनन्तर
वल्लराणि	(१९/८०) लता निकुंजों
पोल्ले	(२०/४२) पोली
अदुवा	(२१/१६) अथवा
फणग	(२२/३०) कंघी
संगोफं	(२२/३५) भुजाओं का परस्पर गुम्फन

खलुंकिज्जं (उत्तराध्ययन सूत्र के २७ वें अध्ययन का नाम) अविनीत बैल संबंधी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समिलं	(२७/४) जुए की कील
छिन्नाले	(२७/७) जार
सेल्लिं	(२७/७) रास को
खलुंके	(२७/३, ८, १५) अविनीत शिष्य
गलि	(२७/१६) अविनीत, दुष्ट
बुज्झंति	(२९/१) प्रशांत होते हैं
बुज्झइ	(२९/४२) प्रशांत होता है
खुड्डए	(३२/२०) अन्त करना
ओराला	(३६/१२६) स्थूल
माइवाहया	(३६/१२८) मातृवाहक (द्वीन्द्रिय जंतु-विशेष)
पल्लोया	(३६/१२९) पल्लोय (द्वीन्द्रिय कीट-विशेष)
अणुल्लया	(३६/१२९) अणुल्लक (द्वीन्द्रिय जंतु-विशेष)
मालुगा	(३६/१३७) मालुक (त्रीन्द्रिय जंतु-विशेष)
गुम्मी	(३६/१३८) कानखजुरी
डोले	(३६/१४७) डोल (चतुरिन्द्रिय जीव-विशेश, टिड्डी)

३. वाक्य

वाक्यविज्ञान के अंतर्गत भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर सम्बन्ध का विचार किया जाता है। पद ईंट है और वाक्य भवन है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है। अतः 'वाक्य ही भाषा की सार्थक इकाई है।' आधुनिक भाषा-विज्ञान भी इस मत का पोषक है– Sentence is a significant unit. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[१४]

आचार्य विश्वनाथ ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य माना है।[१५] कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों ने भी वाक्य में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति को अनिवार्य बताया है।

१. आकांक्षा

आकांक्षा का अर्थ अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति है। वाक्य में

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्त शब्दों कर्ता, कर्म, क्रिया–इन सभी को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। इस अपेक्षा की पूर्ति होने पर ही वाक्य बनता है। इसलिए वाक्य में पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य है।

२. योग्यता

पदों में पारस्परिक सम्बन्ध की योग्यता या क्षमता होनी चाहिए। अर्थ से सम्बन्धित या व्याकरण से सम्बन्धित कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

३. आसत्ति

आसत्ति अर्थात् समीपता। वाक्य में प्रयुक्त पद क्रमबद्ध रूप से उच्चरित हों, पदों के बीच अनावश्यक अन्तराल न हो–इनसे युक्त पद-समूह ही पूर्ण अर्थ की प्रतीति करा सकता है, इसलिए वही वाक्य है।

वाक्य-प्रयोग एक जटिल प्रक्रिया है। इसका मनोवैज्ञानिक क्रम है–

१. चिन्तन–अभीष्ट अर्थ का विचार
२. चयन–उपयुक्त शब्द-चयन
३. भाशितकगठन –व्याकरण के अनुरूप शब्द-क्रम
४. उच्चारण–उच्चारण के द्वारा उन्हें वाक्य के रूप में प्रकट करना।

वाक्य में ये चीजें यदि सुसंबद्ध रूप में चलती हैं तो वाक्य की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगता। भाषा में अनेक प्रकार के वाक्य प्रयुक्त होते हैं। उत्तराध्ययन के कर्ता ने वाक्य के आवश्यक तत्त्वों सहित क्रमबद्ध वाक्यरचना का निर्माण कर वाक्य को सार्थक बनाया है। उत्तराध्ययन में प्राप्त वाक्यों के कुछ प्रकार द्रष्टव्य हैं–

१. रचनामूलक वाक्य

वाक्यरचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं–

(i). **सामान्य वाक्य :** इसमें एक उद्देश्य होता है और एक विधेय। जैसे–

'सुयं मे आउसं।' (उत्तर. २/सू. १)
'मा य चण्डालियं कासी' (१/१०)

(ii) **मिश्र वाक्य :** इसमें एक मुख्य उपवाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अनेक उपवाक्य होते हैं। उदाहरण रूप में–कयरे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया? (२/सू. २)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) संयुक्त वाक्य : इसमें एक से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। इनके साथ आश्रित उपवाक्य एक या अनेक होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं। यथा– निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। (१६/सू. ४)

२. अर्थमूलक वाक्य

अर्थ या भाव की दृष्टि से वाक्य के मुख्य आठ भेद किए जाते हैं –

१. विधि वाक्य–से निग्गंथे। (१६/सू. ६)
२. निषेध वाक्य–नो विभूसाणुवाई हवइ। (१६/सू. ११)
३. प्रश्न वाक्य–पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? (२९/१२)
४. अनुज्ञा वाक्य–नापुट्ठो वागरे किंचि। (१/१४)
५. सन्देह वाक्य–कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा। (१९/६)
६. इच्छार्थक वाक्य–इच्छियमणोरहे तुरियं, पावेसू तं दमीसरा! (२२/२५)
७. संकेतार्थक वाक्य–अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो! (१९/१०)
८. विस्मयार्थक वाक्य–अहो! भोगे असंगया। (२०/६)
अहोसुभाण कम्माणं निज्जाणं पावगं इमं। (२१/९)

३. क्रियामूलक वाक्य

वाक्य में क्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं–

१. क्रियायुक्त वाक्य– खणं पि न रमामहं। (१९/१४)

२. क्रियाविहीन वाक्य–'इमं सरीरं अणिच्चं।' (१९/१२)

४. अर्थविज्ञान

'अर्थ' शब्द की आत्मा है। ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान और वाक्यविज्ञान भाषा के शरीर हैं। इनमें भाषा के बाह्यपक्ष का विवेचन किया जाता है। अर्थविज्ञान में शब्दार्थ के आन्तरिक पक्ष का विश्लेषण किया जाता है। भर्तृहरि ने अर्थ का लक्षण बताते हुए कहा–

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्मिंस्तूच्चरितेष्शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥[१६]

शब्द के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ही अर्थ कहते हैं। अर्थ का अन्य लक्षण नहीं है।

अर्थ का ज्ञान प्रत्य या प्रतीति के रूप में होता है। प्रतीति के दो साधन हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और पर-प्रत्यक्ष। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आधार पर शब्द विशेष के अर्थ में परिवर्तन भी देखा जाता है। अर्थ-परिवर्तन तीन प्रकार का है—

१. अर्थ-विस्तार (Expansion of Meaning)
२. अर्थ-संकोच (Contraction of Meaning)
३. अर्थादेश (Transference of Meaning)

उत्कर्ष व अपकर्ष के आधार पर इन्हें भी दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है—

१. अर्थोत्कर्ष
२. अर्थापकर्ष

प्रस्तुत प्रसंग में उत्तराध्ययन में अर्थपरिवर्तन की दिशाएं विवेच्य हैं।

अर्थ-विस्तार

कुछ शब्द मूल रूप में किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ में विस्तार हो गया। यथा—

१. कुसला (१२/३८)

कुशल शब्द का अर्थ था 'कुशं लुनातीति कुशलः' जो कुश को काटता है वह कुशल है। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। उससे हाथ कटने का भय रहता है। इसलिए कुश लाना चतुरता का सूचक था। धीरे-धीरे कुशल शब्द 'कुश लाना' अर्थ को छोड़कर 'चतुरता', 'निपुणता' का अर्थ देने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ में विस्तार हो गया। 'न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति' (१२/३८)—यहां 'कुशल' शब्द द्वारा ध्वनित होता है कि जो तत्त्वविचारणा में निपुण है वह कुशल है।[१७]

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. दारुणा गामकंटगा (२/२५)

ग्रामकण्टक का सामान्य अर्थ है—ग्राम यानि समूह तथा कण्टक शब्द कांटा के लिए आता है। पर इसका अर्थ-विस्तार होकर यहां ग्राम शब्द इन्द्रिय-समूह के अर्थ में प्रयुक्त है। ग्रामकण्टक अर्थात् कानों में कांटों की भांति चुभने वाले इन्द्रियों के विषय, प्रतिकूल शब्द आदि। ये कांटे इसलिए हैं कि ये दुःख उत्पन्न करते है और मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए विघ्नकारी होते हैं।[१८]

३. 'कावोया जा इमा वित्ती' (१९/३३)

कापोतीवृत्ति का सामान्य अर्थ कबूतर के समान वृत्ति है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है— कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहण करने वाला। जैसे कापोत धान्यकण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है वैसे भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोनों के प्रति सशंक होता है।[१९]

अर्थसंकोच

अर्थविस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थों में संकोच भी होता है। उनका विस्तृत अर्थ संकुचित हो जाता है। यास्क का कहना है—कई शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बहुत विस्तृत है, पर ये किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। अर्थसंकोच के अनेक उदाहरण उत्तराध्ययन में भी देखे जा सकते हैं। यथा—

१. गलियस्से (गल्यश्व) (१/१२)

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से 'अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः' सड़क पर चलने वाले को अश्व कहते हैं। अर्थसंकोच के कारण सड़क पर चलने वाले सभी को अश्व नहीं कह सकते। यहां भी 'अश्व' शब्द 'घोड़ा' इस सीमित अर्थ की अभिव्यक्ति देता है।

२. संसारे (३/५)

संसरन्ति इति संसारः। इसका अर्थ है गतिशील, संसरणशील। पर यह शब्द जगत, संसार के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

३. मणूसा (४/२)

इसका अर्थ होगा—'मननात् इति मनुष्यः' मनन या चिन्तन करने

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले को मनुष्य कहते हैं। यह अर्थ सिमटकर मनुष्य जातिवाचक नाम हो गया, इसलिए चिन्तन करने वाले और मूर्ख सभी मनुष्य हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह शब्द मनुष्य-अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

समास, उपसर्ग, प्रत्यय, विशेषण, नामकरण, पारिभाषिकता आदि में भी अर्थ संकोच हो जाता है।

समास	–	सिक्खासीले	(११/४)
उपसर्ग	–	पमत्ते	(४/५)
		संगो	(२/१६)
		संजोगा	(११/१)
प्रत्यय	–	भोगे	(२०/६)
विशेषण	–	चारूभासिणि!, सुतनु!	(२२/३७)
नामकरण	–	रामकेसवा	(२२/२७)

अथदिश

एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना अथदिश है। अथदिश में प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और उसका स्थान नया अर्थ ले लेता है। जैसे–

१. एगया आसुरं कायं (३/३)

असुर का मूल अर्थ असु+र (प्राणशक्तिसंपन्न) 'देवता' था किन्तु बाद में सुर (देवता) का उल्टा अ+सुर राक्षस अर्थ हो गया। उत्तराध्ययन में भी असुर शब्द इसी अर्थ को द्योतित कर रहा है।

२. सहिए (१५/१), सहई (३१/५)

वेद में सह् धातु का अर्थ जीतना था। अब यह सहन करना, सहिष्णु अर्थ में प्रयुक्त होती है।

३. 'अयं साहसिओ भीमो' (२३/५५)

पहले इसका अर्थ बिना विचारे काम करने वाला, डाका डालना, चोरी, व्यभिचार करना आदि था। अब इसका अर्थ 'साहस वाला', 'साहसिक' है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. 'कुप्पवयणपासंडी' (२३/६३)

प्राचीन साहित्य में पाषण्ड का अर्थ–श्रमण संप्रदाय है। यहां वृत्तिकार ने इसका अर्थ व्रती क्रिया है 'पाषण्डिनो व्रतिनः।'[२०]

प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ किसी एक संप्रदाय या विचारधारा को मानने वाला दार्शनिक किया जा सकता है। पाखण्ड का अर्थ वर्तमान में ढोंग, दिखावा है।

५. रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे (३२/३७)

मुग्ध शब्द का मूल अर्थ 'मूर्ख' था। अब इसका अर्थ मोहित होना हो गया है।

अर्थोत्कर्ष

अर्थविकास की उपर्युक्त तीन दिशाओं में शब्दों में अर्थपरिवर्तन से उत्कर्ष भी आया है और कुछ अर्थों में अपकर्ष भी हुआ है। अर्थ में उत्कर्ष आने वाले शब्दों को अर्थोत्कर्ष कहा है। यथा–कुसला, साहसिओ आदि।

अर्थापकर्ष

अर्थपरिवर्तन से जहां अर्थ में अपकर्ष (हीनता) आया है, उन्हें अर्थापकर्ष कहा गया है। जैसे–पासंडी, मणूसा।

इस प्रकार उत्तराध्ययनमें अर्थ-विज्ञान के सभी तत्त्व प्राप्त हैं।

भाषा और भाव का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। रचनाकार के भावों की संवाहकता में उत्तराध्ययन में प्रयुक्त भाषा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उत्तराध्ययन न केवल धर्मकथा, उपदेश, आचार और सिद्धान्त की दृष्टि से उपयोगी है अपितु इसमें भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए भी प्रचुर सामग्री प्राप्त है। भाषा के विशिष्ट प्रयोग भी उपलब्ध हैं। स्वरों का विकास, स्वरभक्ति, समीकरण, विषमीकरण, संज्ञा, सर्वनाम, उपसर्ग, क्रियापद आदि का भी सहज समावेश है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ. २०।

२. भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, पृ. ६।

३. महाभाष्य १/२/२९-३०।

४. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ. २०६।

५. कालुकौमुदी पूर्वार्ध, सू. १७।

६. अष्टाध्यायी, १/४/१४।

७. महाभाष्य उद्धृत, भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ. २७७।

८. निरुक्त १/१।

९. प्राकृतशब्दानुशासनम्, श्लोक ६।

१०. प्राकृतलक्षण, १/१।

११. वाग्भटालंकार, २/२।

१२. प्राकृत व्याकरण, १/१।

१३. देशी नाममाला, १/३, ४।

१४. वाक्यपदीय, १/७३।

१५. 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' साहित्य दर्पण, २/१।

१६. वाक्यपदीय, २/३२८।

१७. 'कुशलाः—तत्त्वविचारं प्रति निपुणाः' बृहद्वृत्ति, पत्र ३७०।

१८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७०।

१९. बृहद्वृत्ति पत्र, ४५६, ४५७।

२०. बृहद्वृत्ति पत्र, ५०८।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. निकष

जीवन जड़ और चेतन का संयोग है। चेतन कार्य करता है जड़ के सहारे। जड़ जीवन्त बन जाता है जब चैतन्य अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति चाहता है। शब्द जड़ है, भाव चेतन है। इसीलिए कहा गया–भाषा भावों का लंगड़ाता सा अनुवाद है। भावों को अभिव्यक्त करने और अभिव्यक्ति को ग्रहण करने का माध्यम भाषा ही है। भाषा की विविध विधाओं से भावों का ग्रहण और संप्रेषण होता है। परिस्थिति, मनःस्थिति व अभिव्यक्त होते शब्दों के संयोग से भावों का दर्शन होता है। भाषा वह माध्यम है जिसके सहारे भावों की गहराई में पहुंचा जा सकता है, वक्ता की आत्मा से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।

साहित्य की किसी भी विधा में पाठक व लेखक के बीच शब्द ही वह सेतु है जो पाठक को लेखक की आत्मा तक ले जा सके, शब्दात्मा का दर्शन करा सके। समय और क्षेत्र की कोई भी सीमाएं इसके सम्पर्क में बाधक नहीं। कुशल साहित्यकार वही है जो पाठक-चेतना की अंगुली पकड़कर शब्दों में निहित आत्मा तक ले जाए। कुशल पाठक भी वही है जो शब्दों के सहारे आत्मा तक पहुंच जाए। तथ्य यही है शब्द व भाव के बीच एक सेतु हो जाना। शैली वह चाबी है जो पाठक को अपने साथ बहाकर अनुद्घाटित रहस्यों का उद्घाटन कर सके, शब्दों में छिपी आत्मा का दर्शन करा सके। उत्तराध्ययन के इस शैलीविज्ञान अध्ययन में उन्हीं रहस्यमय, पहेलीनुमा तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संस्कृति के ऋषियों ने आत्मा, परमात्मा एवं विश्व के संबंध में गहन चिंतन, मनन एवं अन्वेषण किया है। इस खोज में उन्होंने जो कुछ पाया, आत्मविकास एवं आत्मशुद्धि के लिए जो यथार्थ मार्ग देखा-समझा उसे अपने शिष्यों को संबोध देकर उस ज्ञानधारा को अनवरत प्रवहमान रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान-परंपरा को भारतीय संस्कृति में श्रुत या

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुति कहते हैं। जैन-परंपरा के अनुसार तीर्थंकर के मुख से संश्रुत वाणी को आगम कहते हैं।

भारतीय विचारधारा की प्रतिनिधि श्रमण-संस्कृति एवं वैदिक-संस्कृति के विशाल वाङ्गमय ने भारतीय जीवन के अनेक पक्षों को उद्घाटित किया है। वह हमारे देश की एक सांस्कृतिक निधि है। श्रमण-संस्कृति पुरुषार्थ प्रधान संस्कृति है। उसका स्पष्ट उद्घोष है कि आत्म-पुरुषार्थ ही आत्म-उन्नति का, आध्यात्मिक प्रगति का हेतु है। क्योंकि आत्मा ही अपने सुख-दुःख की कर्ता है और विकर्ता है। दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है एवं सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है। उत्तराध्ययन में श्रेष्ठी-पुत्र अनाथी सभी त्रस-स्थावर जीवों के नाथ बन जाते हैं। आत्मकर्तृत्ववाद के आधार पर ही क्षान्त, दान्त, निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति को स्वीकार करते हैं। उनकी आत्मकर्तृत्व की उद्घोषणा इन शब्दों में मुखर होती है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥ उत्तर. २०/३७

इसी का संवादी स्वर हमें उपनिषद् में भी उपलब्ध होता है–

आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो.....[1] अपने आपको देखो, अपने को सुनो, अपने आप का मनन करो, निदिध्यासन करो।

आत्मकर्तृत्व का यह सिद्धांत हजारों वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड में गूंजा था और आज भी उसकी ध्वनि-तरंगे जनमानस को अन्तःप्रेरणा दे रही हैं। अतः आगम-साहित्य का ज्ञान प्राप्त किए बिना धर्मदर्शन तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उत्तराध्ययन आगम-साहित्य का ही एक प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसके विषय विस्तृत एवं विविधता लिऐ हुए हैं। अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध उत्तराध्ययन ग्रंथ भारतीय चिन्तनधारा का नवनीत अपने में संजोये हुए है, उसका आलोडन-विलोडन पूर्वक सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है।

उत्तराध्ययन को श्रमणाचार प्रधान आगम कहकर इसमें निहित अन्य तथ्यों को गौण कर देना उचित नहीं। श्रमण-जीवन में इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। साथ ही इसमें वर्णित संस्कृति, साहित्य, शैली एवं नीति के तत्त्व भी अनुसंधान के लिए प्रेरित करते हैं। यद्यपि यह ग्रंथ धर्मकथानुयोग के

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतर्गत परिगणित है, पर जैन दर्शन सम्मत चारों अनुयोगों का इसमें समावेश है। लक्ष्य-प्राप्ति के जो साधन इसमें निर्दिष्ट हैं उन्हें अपनाकर व्यक्ति साध्य तक पहुंच सकता है।

'उत्तराध्ययन श्रमण काव्य है' इस मत से कुछ विचारक सहमत नहीं है। शैली की दृष्टि से आद्योपान्त अनुशीलन के पश्चात् प्रशस्तिपूर्वक कहा जा सकता है–इसका आदि, मध्य, अंत काव्यात्मक गुणों से गुम्फित है। यथा– **पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए ६/१५**

पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो, परिव्रजन करे।

यहां मुनि के संयमी जीवन की विषेषता को लक्षित करते हुए अनासक्तता प्रदर्शित करने के भाव रचनाकार की भावभिव्यञ्जना से उद्गीत हैं। वर्णन की यह वक्र शैली कुन्तक के शब्दों में वक्रता से अभिहित है। चेतन पंखों में अचेतन भिक्षा-पात्र की कल्पना लक्षणा के चमत्कार से सार्थक बनी है। श्लेष पर आधारित इस प्रतीक में प्रच्छन्न चिन्तारहितता चमत्कार का कारण है। नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित पद्य-सृजन है। यहां रमणीय भाव उक्तिवैचित्र्य एवं वर्ण-लय-संगीत सब मिलकर काव्य का सृजन कर रहे हैं।

कोई भी भाव, जिसमें हमारे मन को रमाने की शक्ति हो रमणीय है। हमारे आचार्यों की स्थापना– 'शब्दार्थौ काव्यम्'–'रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है' (डॉ. नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ. २२, २५)। इस दृष्टि से काव्य के अनिवार्य तत्त्व रमणीय अनुभूति, उक्तिवैचित्र्य, छंद–इन सभी का समन्वित रूप उत्तराध्ययन में है। काव्य के लिए अनुभूति मेरूदंड है। कवि का अनुभूति क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतनी ही विविधतापूर्ण उसकी काव्यभाषा होगी। उत्तराध्ययन के कर्ता के विशाल एवं विशद अनुभूति-क्षेत्र में प्रयुक्त अभिनव प्रयोगों को खोजने का प्रयास अनुसंधित्सु ने किया है। कवि की निर्मल मेधा से सहज प्रसूत कुछ ऐसे प्रतीक, मुहावरे, उपमाएं जिनका साहित्य में प्रचलन नहीं के बराबर है, उनकी खोज भी प्रस्तुत शोध प्रबंध में की गई है।

लाढे (कष्टसहिष्णु व्यक्ति का प्रतीक)

लाढ़ एक देश का नाम होते हुए भी यहां कष्ट-सहिष्णु के प्रतीक के

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में उभरा है। इसका कारण है—महावीर ने लाढ़ देश में विचरण किया। वहां उन्होंने अनेक कष्ट सहन किए थे। आगे चलकर वह कष्ट-सहिष्णु का प्रतीक बन गया। इसी प्रकार चेइए वच्छे (नमि राजर्षि का प्रतीक), पत्तं (भिक्षापात्र का प्रतीक), इंदियचोरवस्से आदि प्रतीकात्मक शब्दों के विषय में उत्तराध्ययनकार के ऐसे अनेक अविस्मरणीय अवदान हैं, जिससे साहित्य-जगत सदा ऋणी रहेगा। बिम्ब-योजना की दृष्टि से भी उत्तराध्ययन अत्यन्त समृद्ध है। बिम्ब के गुण संश्लिष्टता, मौलिकता, सहजता, सरलता, औचित्य आदि उत्तराध्ययन में सहज स्फूर्त है।

रामचंद्र शुक्ल का कहना है काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है। काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या मूर्त्तभावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं तथा 'कविता' में कही बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए (चिन्तामणि भाग २ पृ. ४३, ४४)। अरिष्टनेमि, राजीमती के शारीरिक सौंदर्य के वर्णन के प्रसंग में कवि का बिम्ब-विधान पाठक को भी उनके अलौकिक सौंदर्य से अभिभूत कर देता है। राजीमती के सौंदर्य की परिकल्पना में कवि-मानस के चित्र में रथनेमि की विरक्ति को पराभूत कर देने का सामर्थ्य नजर आता है। कामासक्त रथनेमि को धिक्कारते हुए चित्र रूप में राजीमती उपस्थित हो जाती है। उत्तराध्ययन में ऐसे मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है जो कम प्रचलित है जैसे—

'वालुयाकवले चेव निरस्साए उ संजमे'
'जहा दुक्खं भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो'
'जहा तुलाए तोलेउं दुक्करं मंदरो गिरी'

ये प्रयोग कवि की कर्तृत्वशक्ति एवं अभिव्यक्ति कौशल को उजागर कर रहे हैं।

'वैदग्ध्य-भंगी-भणितिः' में विदग्धता का अभिप्राय उस निपुणता से है जो कवि की कल्पना से प्रसूत होती है। इसी विदग्धता जन्य विच्छित्तिपूर्ण कथन यहां वक्रोक्ति का सर्जन कर रहा है। सम्राट् श्रेणिक द्वारा अनाथी मुनि को पूछा गया प्रश्न—

तरुणो सि अज्जो! पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया! (२०/८)

इसके उत्तर में अनाथी मुनि का कथन—

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणाहो मि महाराया!, नाहो मज्झ न विज्जई (२०/९) में कवि-कल्पना की निपुणता उक्ति वैचित्र्य को मुखर कर रही है। 'नाथ' शब्द योगक्षेम-विधाता की विस्तृत कल्पना अपने में समेटे हुए है। ऐसे अनेक शब्द उत्तराध्ययन का भाषिक सौंदर्य प्रकट कर रहे हैं।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के अनुसार रस का भोक्ता सहृदय है। व्यक्ति के भीतर सुप्त स्थायी भाव परिस्थितियों का योग पाकर रस-निर्मिति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। शांत, वीर रस-प्रधान उत्तराध्ययन का रस परिपाक प्रत्येक स्थिति को सहृदय तक पहुंचाने में सिद्धहस्त है। मासखमण की उत्कृष्ट तपस्या के पारणे में भिक्षा हेतु पधारे हरिकेशी मुनि की आभा ब्राह्मणों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी शांतरस की सरिता प्रवाहित करती रही। मुनि को देख जातिस्मृति ज्ञान के पश्चात् चित्रपट की भांति संसार के दृश्यों को देख मृगापुत्र का शांतरस का स्थायी भाव प्रबल निर्वेद जाग उठा। श्रामण्य की स्वीकृति प्राप्त करके ही उस सहृदय को आत्मतोष मिला। मृगापुत्र द्वारा नरक आदि का वर्णन बीभत्सता को भी बीभत्स बना रहा था। प्रतिक्षण आशंकित विश्व के लिए अरिष्टनेमि का यह चिंतन–

जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई।। २२/१९

निरंतर शांतरस की सरिता प्रवाहित कर रहा है एवं युग के लिए 'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई' का अभिनव संदेश दे रहा है।

उत्तराध्ययन का आलंकारिक सौंदर्य जितना स्वाभाविक है उतना ही अनुपम है। अनेक उपमाओं से उपमित बहुश्रुत के उपलक्षण आंतरिक शक्ति एवं तेजस्विता को उद्घाटित करने वाले हैं। मृगापुत्र के संदर्भ में इस कथन को दृष्टिगत करें–

'रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ' (१९/८७)

कपड़े पर लगी हुई धूलि की तरह संपत्ति आदि को छोड़कर मृगापुत्र घर से निकल गया साहित्य जगत में अप्रचलित उपमान शैलीविज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक सौंदर्य का वैभव यहां प्रचुरता लिए हुए है। धर्म-कथात्मक आख्यानों में हर मोड़ की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है। प्रत्येक पात्र पूर्ण रूप

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर उपस्थित होता है। आज जहां सक्षम नेतृत्व का अभाव है वहां नमि राजर्षि, राजा श्रेणिक आदि का चरित्र जीवंत-आदर्श है। प्रजा के प्रति वफादार सम्पूर्ण मिथिला नमि के पीछे क्रन्दन करती दिखाई देती है। नेतृत्व के लिए नमि, श्रेणिक जैसे नेताओं का अनुकरण करने की अपेक्षा है।

'तं नेव भुज्जो वि समायरामो' (१४/२०)

धर्म को नहीं जानने पर मोहवश हमने पापकर्म का आचरण किया किन्तु 'भृगुपुत्र अब वह (पापकर्म का आचरण) नहीं करेंगे।' असंयम में रत लोगों के लिए इससे और बड़ा प्रेरणास्रोत क्या हो सकता है?

उत्थान और पतन के चक्रव्यूह से आहत रथनेमि को सही रास्ते पर लाने में राजीमती का नारीत्व जाग उठता है। अरिष्टनेमी का निष्क्रमण महोत्सव, देवताओं का आना इस बात का सूचक है कि ऐसे त्यागी, ब्रह्मर्षिओं के चरित्र के आगे देव भी नमस्कार करते हैं।

प्रतिस्रोत में बढ़ने वाले विरल पुरुष गणधर गार्ग्य आचार संपन्न आचार्य थे। उनकी शिष्यसंपदा भी विस्तृत थी। साधना के क्षेत्र में भी सामुदायिकता विकास को उत्प्रेरित करने वाली है, पर उनके सभी शिष्य उद्दंड हो गये। वैसी परिस्थिति में शिष्यों का मोह छोड़ तपोमार्ग का स्वीकरण कर गणधर गार्ग्य ने वीरता का परिचय दिया। शिष्यों की भूख साधनामार्ग को भी धूमिल करती दृष्टिगोचर होती है वहां गर्गगोत्रीय स्थविर का उदाहरण साधना के मार्ग में अकेले चलने का भी दृढ़ता के साथ आह्वान करता है।

उत्तराध्ययन का भाषावैज्ञानिक अनुशीलन अनेक तथ्यों के समुद्घाटन के साथ भाषा के क्षेत्र में नवीन है। स्वर-विज्ञान एवं व्यंजन-विज्ञान का अध्ययन स्वर एवं व्यंजनों का अनेक रूपों में परिवर्तन दर्शाता है। मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन के साथ लोप, आगम के विभिन्न रूपों का निदर्शन, स्वरभक्ति, विषमीकरण, महाप्राणीकरण, दन्त्यीकरण, व्यंजनों का विभिन्न रूपों में परिवर्तन आधुनिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। ग्रंथ में संज्ञा, विशेषण, क्रिया, अव्यय आदि पदों के रूपों का गहन विवेचन भी प्राप्त है। ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान एवं अर्थविज्ञान आदि की दृष्टि से विमर्श करने पर अनेक तत्त्व सामने आते हैं। अर्थविस्तार, अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष आदि तत्त्वों का भी सहज समावेश है। अनेक देशी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दों के प्रयोग अनुसंधित्सु को आह्वान कर रहे हैं अपने उद्भव की कहानी बताने।

अनुशासन की मुक्ता सुरक्षित कैसे रहे? गुरु-शिष्य के संबंध को मधुर कैसे बनाया जा सकता है–'विणयसुयं' अध्ययन इसका स्पष्ट निदर्शन है। इसके द्वारा अनुशासन के महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त कर उच्छृंखलवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है, विनय का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

चार्वाक मत में आत्मा और पुनरागमन जैसा कोई सिद्धांत नहीं है। वे कहते हैं–

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

भस्मीभूत देह का पुनः आगमन नहीं–इस बात का निरसन 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' (४/३) जैसी सूक्तियां, नमि (अध्ययन ९), भृगुपुत्र (अध्ययन १४), मृगापुत्र (अध्ययन १९) के पूर्वजन्म की स्मृति के प्रसंगों से एवं चित्त-संभूत (अध्ययन १३) के छः-छः जन्मों के घटना-प्रसंगों से होता है।

जातिस्मृति कैसे होती है, इसका कारण भी निर्दिष्ट है–

उवसंतमोहणिज्जो-मोहकर्म की उपशांतता (९/१)
अज्झवसाणम्मि सोहणे-अध्यवसान की शुद्धि (१९/७)

शाश्वतवादी आयुष्य को निरुपक्रम (काल-मृत्यु) मानते हैं। उनके अनुसार **'स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा'** धर्माचरण जीवन के प्रारंभ में ही क्यों, अन्तकाल में भी किया जा सकता है। शाश्वतवादियों के इस मत का निराकरण करते हुए उत्तराध्ययनकार का कहना है कि पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला अंत में विषादग्रस्त होता है। अतः अन्तिम सांस तक सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों की आराधना करें (४/९, १३)।

अज्ञानियों के अकाममरण एवं पण्डितों के सकाममरण की चर्चा हर सज्जन को अकाम-मरण से दूर व भक्तपरिज्ञा, इंगिणी या प्रायोगपगमन में से किसी एक को स्वीकार कर सकाममरण के लिए उत्प्रेरित करती है।

मंत्र और औषधियों के विशारद शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य अनेक उपचारों के बावजूद भी जिस भयंकर वेदना को दूर नहीं कर सके, उसे दूर करने का

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य सत्-संकल्प में है—इसका स्पष्ट निदर्शन राजर्षि नमि व मुनि अनाथी के आख्यान से होता है।

यज्ञादि क्रियाकांडों में ही धर्म मानने वालों के सामने घोर पराक्रमी हरिकेशी का दृष्टान्त मननीय है। यज्ञ का आध्यात्मिकीकरण ही आध्यात्मिक आरोहण का सोपान है।

दुर्मत का निग्रह करने वाली अनेक गाथाएं उत्तराध्ययन में प्रयुक्त हैं। शरीर से भिन्न चैतन्य नहीं है। पांच भूतों के समवाय से चैतन्य की उत्पत्ति और उसके अलग होते ही चैतन्य भी नष्ट हो जाता है – इस नास्तिक मत का निरसन उत्तराध्ययन के शब्दों में–

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा। अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो। (१४/१९)

व्रतों की परंपरा का स्रोत श्रमण संस्कृति है। इस संस्कृति का आदर्श है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर अपना उच्चतम उत्कर्ष करने में सक्षम है। 'केसिगोयमिज्जं' अध्ययन उलझे विकल्पों का समाधान कैसे किया जा सकता है? मन को अनुशासित करने का उपाय क्या है? इसकी मौलिक उद्भावना के साथ-साथ यह अध्ययन चिन्तन के परिष्कार, परिवर्द्धन के नये आयाम उद्घाटित करता है।

ब्राह्मण कौन? 'जन्नइज्जं' अध्ययन में विजयघोष और उनके साथियों द्वारा जिज्ञासा किए जाने पर मुनि जयघोष ब्राह्मण के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करते हैं–

जो आर्य-वचन में रमण करता है। जो त्रस-स्थावर जीवों की मन, वचन, काया से हिंसा नहीं करता। जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता–आदि गुणों से युक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण का यह वास्तविक स्वरूप यज्ञादि क्रियाकांड में रत ब्राह्मणों को अपने स्वरूप की सही पहचान कराने में सक्षम है।

उत्तराध्ययन का अध्ययन जीवन के अनेक पक्षों को उजागर कर रहा है। पवयण-माया, सामायारी, चरणविही, अणगारमग्गगई आदि अध्ययन साध्वाचार पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। 'मोक्खमग्गगई' में मोक्षमार्ग का व 'सम्मत्तपरक्कमे' में साधना-मार्ग का सुंदर निरूपण है। 'जीवाजीवविभत्ती' संयम का मूल आधार जीव-अजीव का ज्ञान कराता है। कम्मपयडी, लेसज्झयणं

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि अध्ययन तत्त्व की गहराइयों में ले जाकर साधना का पथ प्रशस्त करने वाले हैं।

उत्तराध्ययन के रचना काल में शैलीविज्ञान जैसी कोई अध्ययन-प्रविधि समीक्षाजगत में उद्भावित थी या नहीं किन्तु उत्तराध्ययन के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि शैलीवैज्ञानिक प्रतिमानों की विशद एवं सार्थक व्याख्या उत्तराध्ययन में प्राप्त है। विशिष्टशब्द-संरचना, प्रतीक, बिम्ब, साभिप्राय व्याकरणिक विचलन, क्रिया विचलन, विशेषण विचलन, अव्यय विचलन, प्रबन्ध विचलन आदि से उत्तराध्ययन पर्याप्त समृद्ध है। इसी प्रकार दर्शन, संस्कृति, शैलीविज्ञान आदि के तत्त्वों से भरपूर यह ग्रंथ अनेक नये आयामों को उद्घाटित करने वाला है।

उपयोगिता का मानदंड पुरातनता या नूतनता नहीं है। जो बुद्धि, मन और भावनाओं को रस से आप्लावित करके, जीवन को लक्ष्य की दिशा में गतिशील कर दे वही काव्य है। कालिदास के शब्दों में–

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः पर प्रत्यनेय बुद्धि।।

उत्तराध्ययन के संदर्भ में इस सच्चाई को साक्षात् किया जा सकता है।

शाश्वत सत्य का स्फुरण सर्वज्ञ ही कर सकते हैं। इन्द्रिय चेतना में जीने वाले व्यक्ति की सोच कुछ सीमा तक ही उसे ग्राह्य कर सकती है। उसकी सोच अध्यात्म को भी तर्क व परीक्षण की दृष्टि से देखें यह उत्कर्षक नहीं है। इसकी अपेक्षा सर्वज्ञ के द्वारा उदाहृत पथ पर चल कर वह स्वयं सर्वज्ञ बन शाश्वत सत्य को उपलब्ध कर सकता है, शाश्वत सत्य का मार्ग प्रस्तुत कर सकता है। वेद की उक्ति है–

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'

सब दिशाओं से शुभ ज्ञान मिले। उत्तराध्ययन के अध्ययन से प्राप्त शुभ एवं सम्यक् ज्ञान द्वारा, आधुनिक युग के वातावरण में रहते हुए भी श्रमण-संस्कृति की आत्मा से साक्षात्कार कर हर व्यक्ति बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रस्थान कर सकता है।

सन्दर्भ -

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय-२, ब्राह्मण-४, पद-५।

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१.	अंगसुत्ताणि, भाग-३ (पण्हावागरणाइं)	सं. मुनि नथमल	वि.सं. २०३१	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
२.	अग्निपुराण	वेदव्यास	प्र.सं. १८८२	कलकत्ता, जीवानंद विद्यासागर भट्टाचार्य
३.	अणुओगदाराइं	सं. वि. आचार्य महाप्रज्ञ	प्र.सं. १९९६	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
४.	अथर्ववेद (प्रथम, द्वितीय खण्ड)	सं. श्रीराम शर्मा आचार्य	पंचम सं. १९६९	संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब बरेली (उ.प्र.)
५.	अनुयोगद्वार चूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	१९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सभा, रतलाम
६.	अनुयोगद्वारसूत्रम् चूर्णि-विवृत्ति-वृत्ति विभूषितम् (प्रथम विभाग)	सं. मुनि जम्बुविजय	प्र.सं. २०५५	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई ४०००३६
७.	अनुयोगद्वार हरिभद्रीय वृत्ति	हरिभद्र	वि.सं. १९८४	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सभा, रतलाम

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
८.	अभिज्ञान – शाकुन्तलम्	व्या. डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी	प्र.सं. १९८०	चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी
९.	अमरकोष : (रामानुजी टीका)	हरगोविंदशास्त्री	२०२६	चौखंबा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
१०.	अश्रुवीणा	आचार्य महाप्रज्ञ	१९९९	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
११.	अरस्तू का काव्यशास्त्र	अनु. डॉ. नगेन्द्र	१९५७ ई.	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
१२.	अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्ति (प्रथम भाग)	ले. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	सन् १९९२	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
१३.	अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्ति (द्वितीय भाग)	ले. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	चतुर्थ सं. सन् १९८९ ई.	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
१४.	अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्ति (तृतीय भाग)	लेखिका प्रज्ञादेवी	चतुर्थ सं. सन् १९८९ ई.	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
१५.	आचारांग चूर्णि	जिनदासगणि	सन् १९४१	ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
१६.	आचारांग वृत्ति	शीलांकाचार्य	सं. १९९१	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुम्बई
१७.	आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान	डॉ. केदारनाथसिंह	१९७१	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१८.	आवश्यक निर्युक्ति	भद्रबाहु	सन् १९२८	जागमोदय समिति, मुम्बई
१९.	इतिवुत्तक			
२०.	उत्तरज्झयणाणि (भाग-१)	सं.वि. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वि.सं. १९९२	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
२१.	उत्तरज्झयणाणि (भाग-२)	सं.वि. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वि.सं. १९९३	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
२२.	उत्तररामचरितम्	सं. जनार्दनशास्त्री पाण्डेय	पुनमुर्द्रण १९९३	मोतीलाल बनारसीदास
२३.	उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन	सं. वि. मुनि नथमल	जनवरी, १९६८	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता-१
२४.	उत्तराध्ययन चूर्णि (उत्तराध्ययनानि)	श्री गोपालगणि महत्तरशिष्य	सं. १९८९	ऋषभदेवी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
२५.	उत्तराध्ययन टीका	शान्त्याचार्य	सं. १९७३	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार
२६.	उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १-३)	भद्रबाहु	सं. १९७२, ७३	देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
२७.	उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति	वादिवेताल श्री शान्तिसूरि	सं. १९७२, ७३	देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, मुम्बई

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
२८.	ऋग्वेद	महर्षि दयानन्द सरस्वती	अगस्त १९९९	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-२
२९.	कर्पूरमञ्जरी	राजशेखर, व्या. डॉ. सुदर्शनलाल जैन	प्र.सं. सन् १९८३	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
३०.	कषायपाहुड (जयधवला टीका सहित) प्रथम अधिकार	सं. पं. फूलचन्द्र महेन्द्रकुमार, पं. कैलाशचन्द	द्वितीय आवृत्ति वि. सं. २०३०	भा.दि. जैन संघ, चौरासी, मथुरा
३१.	कठोपनिषद्	संशोधित कै. प्रा. 'राजवाडे	अष्टम आवृत्ति १९७७	आनन्द आश्रम
३२.	कादम्बरी (पूर्वार्द्धम्)	सं. मोहनदेव पन्त	पुनर्मुद्रण १९९६	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
३३.	कालु-कौमुदी	मुनि श्री चौथमलजी		आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर
३४.	काव्यप्रकाश (द्वितीय भाग)	सं. श्री गौरीनाथ शास्त्री	वि.सं. २०३८	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
३५.	काव्यबिम्ब	डॉ. नगेन्द्र	१९७१	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली
३६.	काव्यमीमांसा	राजशेखर, अनु. केदारनाथ शर्मा	सन् १९६५	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना ४

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
३७.	काव्यशास्त्र	डॉ. भगीरथमिश्र	१९६६	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
३८.	काव्यालंकार	श्री भामह	१९८५	चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी
३९.	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	वामन	१९५३	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई
४०.	किरातार्जुनीयम्	महाकवि भारवी	वि.सं. २०२४	चौखंबा सीरिज ऑफिस, वाराणसी
४१.	कुमारसम्भवम् (सप्तमसर्गान्तम्)	महाकवि कालिदास	च. सं. १२९१	श्रीयुत वावु भुवनचन्द्र वसाक कोलकाता
४२.	गीता रहस्य	लोकमान्यतिलक		
४३.	चाणक्यनीति दर्पण	आचार्य चाणक्य		निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई
४४.	चाणक्यसूत्राणि	आचार्य चाणक्य		
४५.	चिन्तामणि (भाग-२)	डॉ. रामचन्द्र शुक्ल	१९६५	इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन्स
४६.	छन्दःकौमुदी (हिन्दी भाषा टीका सहित)	पं. नारायणशास्त्री खिस्ते		संस्कृत साहित्य प्रकाशन मन्दिर, काशी
४७.	छन्दशास्त्र	पिंगल आचार्य	१९८६	चौखंबा ओरियंटालिया, वाराणसी

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
४८.	छन्दोमञ्जरी	सं. अनंतरामशास्त्री	छट्ठा सं. वि. सं. २०२६	चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी
४९.	छन्दोमन्दाकिनी	श्रीगुरुप्रसादशास्त्रि संस्कर्त्ता आचार्य सीतारामशास्त्री	तृतीयावृत्ति १९५०	भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस-१
५०.	ज्ञानार्णव	अनु. पं. बालचन्द्रजी शास्त्री	सन् १९७७	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
५१.	डॉ. नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध	सं. भारतभूषण अग्रवाल	प्र.सं. मार्च १९६२	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
५२.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक (प्र. भाग)	भट्ट अकलंक, सं. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन	च.सं. १९९३	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
५३.	तुलसी-मञ्जरी	युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'	१९८३	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
५४.	तैत्तिरीयोपनिषद्	सानुवाद – शाङ्करभाष्य सहित	नवम सं. संवत् २०३६	गीताप्रेस, गोरखपुर
५५.	थेरगाथा	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	१९५५	एम.ए. प्र. महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
५६.	दशरूपकम्	श्रीधनञ्जय विरचित, सं. डॉ. श्री निवासशास्त्री	सं. १९९४	साहित्य भण्डार, मेरठ-२
५७.	दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह	सन् १९७३	प्राकृत ग्रन्थ परिषद
५८.	दसवेआलियं	सं. वि. मुनि नथमल	द्वि. सं. १९७४	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
५९.	दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि	वाचना प्रमुख आ. तुलसी, सं. मुनि नथमल		जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता
६०.	दसवेआलिय सुत्त	डॉ. शुब्रिंग		
६१.	देशी नाममाला	सं. आर. पिशेल सन् १९३८	दूसरा सं.	बोम्बे संस्कृत सीरिज १७, संस्कृत विभाग
६२.	धम्मपदं	डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन	छट्ठा सं. १९९३	बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर
६३.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, अनु. आचार्य विश्वेश्वर	संवत् वि. २०२८	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
६४.	ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)	आनंदवर्धन, व्याख्या. ले. डॉ. रामसागर	पुनर्मुद्रण, १९८९	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
६५.	नंदी	सं. विवे. आचार्य महाप्रज्ञ	प्रथम सं. अक्टूबर, १९९७	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
६६.	नाट्यशास्त्रम्	सं. पं. बटुकनाथशर्मा तथा पं. बलदेव उपाध्याय	द्वितीय सं. वि.सं. २०३७	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
६७.	निघण्टु तथा निरुक्त	सं. लक्ष्मणसरूप	पुनर्मुद्रण १९८५	मोतीलाल बनारसीदास
६८.	निशीथ चूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९५७	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
६९.	पञ्चरात्र	भास, सी.आर. देवधर		ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना
७०.	पटिसम्मिदामग्गो			
७१.	पदमपुराण (प्रथम भाग)	आचार्य रविसेन संपा. अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य	प्र.सं. १९९२	भारतीय ज्ञानपीठ
७२.	प्राकृतपैंगलम् (भाग-१)	पिंगल आचार्य	१९५९	प्राकृत टेक्स्टल सोसायटी, वाराणसी-५
७३.	प्राकृतलक्षण	चण्ड	सन् १९२९	श्री सत्यविजय जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद
७४.	प्राकृत व्याकरण	हेमचन्द्र	सं. २०१६	दिव्यज्योति कार्यालय, ब्यावर
७५.	प्राकृतशब्दानुशासन	त्रिविक्रमदेव सं. पी.एल. वैद्य	सन् १९५४	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
७६.	पाणिनीय शिक्षा	आचार्य पाणिनि		

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
७७.	प्रामाणिक हिन्दी कोश	रामचन्द वर्मा		
७८.	भवानीप्रसादमिश्र की काव्यभाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन	डॉ. नीलम कालडा	प्र.सं. १९९५	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली
७९.	भारतीय साहित्य शास्त्रकोश	डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा'	प्र.सं. १९७३	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना
८०.	भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र	डॉ. कपिलदेव द्विवेदी	प्र.सं. १९८०	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
८१.	भाषाविज्ञान की भूमिका	देवेन्द्रनाथ शर्मा	सं. १९८६	राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली
८२.	भिक्षुन्यायकर्णिका	आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल	प्र.सं. १९७०	आदर्श साहित्य संघ
८३.	मनुस्मृति	सं. पं. गोपालशास्त्री नेने	द्वितीय सं. संवत् २०२६	चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी
८४.	महाभारत (शान्तिपर्व) दूसरा भाग	सं. डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	सन् १९८०	स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय पारडी (जि. बलसाड)
८५.	महाभारत (सौप्तिक पर्व स्त्री पर्व)	प्र. सं. डॉ. पं. श्रीपाद, दामोदर सातवलेकर	संवत् २०३४	स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जि. बलसाड)
८६.	महाभाष्यम्	पतंजलि मुनि, व्या. युधिष्ठिर मीमांसक	१९९२	रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
८७.	मुण्डकोपनिषद्	सानुवाद शांकरभाष्यसहित	दशम सं. २०२६	गीताप्रेस, गोरखपुर
८८.	मृच्छकटिकम्	सं. डॉ. श्रीनिवासशास्त्री	अष्टम सं. १९९६	साहित्यभंडार, मेरठ
८९.	मेघदूत	डॉ. अभयमिश्र (भावानुवाद)	वर्ष १९८७	अनुभूति प्रकाशन, इलाहाबाद
९०.	मेदिनीकोश	सं. पं. जगन्नाथशास्त्री	तृ. सं. २०२४	चौखंबा संस्कृत ऑफिस, वाराणसी
९१.	यजुर्वेद	श्रीपाद् शर्मा सातवलेकर	१९५७	स्वाध्याय मंडल, पारडी
९२.	योगशास्त्र	हेमचन्द्राचार्य, गुजराती भाषांतर पं. श्रावक हीरालाल	सन् १८९९	निर्णयसागर मुद्रायंत्र
९३.	रघुवंशम्	महाकवि कालिदास	सन् १९४८	निर्णसागर मुद्रणालय, मुम्बई-२
९४.	रसगङ्गाधर	सं. भट्टमथुरानाथ शास्त्री	पुनर्मुद्रण १९८८	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
९५.	रसतरंगिणी	भानुदत्त		
९६.	रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन			
९७.	रीति विज्ञान	डॉ. विद्यानिवास मिश्र (संपा.)	१९७३	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
९८.	वक्रोक्तिजीवितम्	श्रीमद् राजानककुन्तक संशोधित श्री सुशीलकुमार दे	शक. १८८३	कोलकाता

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
९९.	वाक्यपदीयम् (प्रथम भाग)	भर्तृहरि, सं. डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी	द्वि.सं. १९७६	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
१००.	वाक्यपदीयम् (द्वितीय भाग)	सं. बलदेव उपाध्याय	१९६८	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
१०१.	वाग्भटालंकार	वाग्भट	सन् १९५७	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी
१०२.	वाङ्मयार्णव	पं. रामावतार शर्मा		ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
१०३.	विनीत अविनीत की चौपाई (भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकार, खंड १)	आचार्य भिक्षु, सं. आचार्यश्री तुलसी	१९६०	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता-१
१०४.	विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	वीर सं. २४८९	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
१०५.	वृत्त रत्नाकर	श्री भट्टकेदारविरचित	तृ.सं. १९७२	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
१०६.	व्यवहारभाष्य टीका		सन् १९२६	वकील केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद
१०७.	शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत	गोविन्द त्रिगुणायत		
१०८.	शील की नवबाड़ अनु. वि. श्रीचन्द रामपुरिया	आचार्य भिक्षु,	१९६१	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता-१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१०९.	शैली	करुणापति त्रिपाठी	१९६०	साहित्यग्रंथ कार्यालय, बनारस
११०.	शैली के सिद्धान्त	डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त	१९७१	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
१११.	शैलीविज्ञान	डॉ. भोलानाथ तिवारी	१९७७	शब्दकार, दिल्ली
११२.	शैलीविज्ञान	डॉ. नगेन्द्र	१९७९	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
११३.	शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका	डॉ. रविन्द्रनाथ श्रीवास्तव	१९७२	केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
११४.	शैलीविज्ञान का स्वरूप	डॉ. गुप्तेश्वरनाथ उपाध्याय	१९७६	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
११५.	शैली वैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श	डॉ. कृष्णकुमार शर्मा	१९७५	संघी प्रकाशन, जयपुर
११६.	श्रमण (मासिक पत्र)	सं. कृष्णचन्द्राचार्य		पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी ५
११७.	श्रमण-सूत्र	उपाध्याय अमरमुनि	द्वि.सं. १९६६	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
११८.	श्रीप्रमाणनयतत्त्वालोक	सं. श्रीहिमांशुविजय	वि.सं. १९८९	श्रीविजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला उज्जैन (मालवा)
११९.	श्रीमद्भगवद्गीता		सं. २०३३	गीता प्रेस, गोरखपुर
१२०.	श्रीमद् भागवत (पुराण)	श्री सूतजी		गीता प्रेस, गोरखपुर

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१२१.	श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	प्र.सं. १९९४	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
१२२.	श्रुतबोध	महाकवि कालिदास संशोधित श्री गौरीनाथ पाठक		शारदा संस्कृत ग्रंथमाला, वाराणसी
१२३.	संस्कृत-धातुकोषः विस्तृत-भाषार्थ-सहितः	सं. युधिष्ठिर मीमांसक	वि.सं. २०४६	मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत – हरियाणा)
१२४.	संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	द्वि.सं. १९६९	मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लिमि., दिल्ली
१२५.	समवाओ	सं. विवे. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्र.सं. १९८४	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
१२६.	समीक्षाशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	वि.सं. २०१०	अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी
१२७.	समीक्षा-सिद्धांत	डॉ. रामप्रकाश	१९७३	आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली
१२८.	सरस्वतीकण्ठाभरणम्	भोजदेवकृत, व्या. डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र	प्र.सं. १९९२	चौखंबा ओरियंटालिया, वाराणसी
१२९.	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ व्या. आचार्य कृष्णमोहनशास्त्री	तृतीय सं. वि.सं. २०२३	चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी-१

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१३०.	साहित्य समालोचना	डॉ. रामकुमार वर्मा	वि.सं. २०१४	दिल्ली भवन, इलाहाबाद
१३१.	साहित्यालोचन	डॉ. श्यामसुन्दर दास	१९५९	इण्डियन प्रेस प्रा. लिमि., प्रयाग
१३२.	साहित्यिक निबन्ध	ले. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त	द्वि.सं. १९६२	अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६
१३३.	सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	१९५४	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१३४.	सुत्तनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	प्रथम सं. ई. सन् १९५१	भिक्षु संघरत्न सारनाथ, बनारस
१३५.	सूत्रकृतांग चूर्णि	प्रथम श्रुतस्कंध	सन् १९७५	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी
१३६.	सूत्रकृतांग हिन्दी टीका		सन् १९१९	आगमोदय समिति, मुम्बई
१३७.	सौन्दरनन्दं महाकाव्यम्	व्या. आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र	प्र.सं. १९९१	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
१३८.	स्थानांग टीका		सन् १९३७	सेठ माणकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
१३९.	स्वप्नवासवदत्तम्	महाकवि भास		कॉलेज बुक सेन्टर, जयपुर-३

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१४०.	हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन	ले. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री	१९६५	प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली मुजफ्फरपुर
१४१.	हर्षचरितम् (१-४ उच्छ्वासात्मक पूर्वभाग)	श्रीमद् बाणभट्ट, व्या. श्री मोहनदेवपन्त	प्र.सं. १९८४	मोतीलाल बनारसीदास
१४२.	हर्ष रत्नावली	एस. रांगाचारी		संस्कृत साहित्य सदन, मैसूर
१४३.	हिन्दी मुहावराकोश	डॉ. भोलानाथ तिवारी	सं. १९८४	स्टार बुक सेन्टर, नई दिल्ली
१४४.	हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	डॉ. नगेन्द्र	१९५५ ई.	आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
१४५.	हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१		वि.सं. २०२५	ज्ञानमंडल लि., बनारस
१४६.	हिन्दी सेमेंटिक्स	हरदेव बाहरी	सन् १९५९	भारती प्रेस पब्लिकेशन, इलाहाबाद
१४७.	Buffon	Discourse of style		
१४८.	Encyclopedia Britami ca-12	William	1768	Benten Publisher, London
१४९.	History of Indian Literature (Vol. II)	M. Winternitz	1933	University of Calcutta

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	ग्रंथ	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१५०.	Imagery and what it tell us	Shakespear	1966	Cambridge at University Press
१५१.	Poetic Process	Whalley, G.		
१५२.	The Brhadaranyaka Upanisad		Third Edition, April 79	Sri Ramakrishna Math Mylapore, Madras
१५३.	The Problem of style	Murry, J. Middleton	E. 1922	Humphery Milford, Oxford University press, London
१५४.	The Uttaradhyayana Sutra	Jarl Charpentier	First Ed. 1980	Ajay Book Service, New Delhi-110002
१५५.	Style	Walter Raleigh	E. 1918	London, Edward Arnlod, 41 D 43 Maddox Street Bond St. W.

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन आगम साहित्य के अध्ययन की जन्मघूंटी है। यह आजीवन पोषण देने वाला है।

- आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती,
लाडनूं (राज.)

Jain Education International 2010_03 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org